पुष्प-६

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

विद्वत्-वर्य पण्डित आशाधरजी विरचित

अध्यात्म रहस्य

जिनशासन रहस्य

अपरनाम

योगोद्दीपन शास्त्र

(धर्मामृत पर स्वर्णकलश रूप)

व्याख्याकार :

डॉ. मानमल जैन, कोटा

सम्पादक :

पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री

सह-सम्पादक :

सुशील कुमार जैन

:: प्रकाशक ::

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति

'लौकान्तिक', ए-३१ए, अनीता कॉलोनी अम्बेडकर मार्ग,

बजाज नगर, जयपुर-302015 (राज.)

मोबाइल : 094147-17816, 09414053925

प्रस्तुत संस्करण : 1200 प्रतियाँ
(महावीर निर्वाण दिवस) 12 नवम्बर, 2015

लागत मूल्य : 100 रुपये मात्र **न्यौछावर राशि : 80 रुपये मात्र**

प्राप्ति-स्थान

1. **श्री विनोद कुमार जैन** फोन : 09414053925
6, सतीजी की बगीची, मोती डूँगरी रोड, जयपुर-०४ (राज.)
2. **श्री प्रमोद कुमार जैन** फोन : 0141-2373822
जयपुर प्रिन्टर्स, एम.आई. रोड, जयपुर (राज.)
3. **श्री अश्विन शाह** फोन : 022-28620730
रुश्तमजी आदर्श हैरीटेज, बी-21, दूसरा माला,
आदर्श कॉम्पलेक्श आफ मार्वे रोड, मलाड (बेस्ट) मुम्बई-६४
4. **श्री विजय कुमार जैन** फोन : 09414177493
ए. जैनको, नयापुरा-कोटा (राज.)
5. **श्री ऋषभनन्दन जैन** फोन : 09289767161
4/472,पार्क एवेन्यु, सेक्टर 4,**वैशाली,** जिला-गाजियाबाद (उ. प्र.)
6. **श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र** फोन : 07469-224323
श्रीमहावीरजी, जिला-करौली (राज.) 322 220
7. **श्री दिगम्बर जैन नसियाँ (भट्टारकजी)** फोन : 0141-2381586
नारायणसिंह सर्किल, टोंक रोड़, जयपुर (राज.)
8. **डॉ. मानमलजी जैन** फोन : 0744-2390809, 9414187020
E-11, सरोवर नगर, बल्लभवाड़ी, कोटा-324007 (राज.)
9. **श्री मनीष कुमार जैन** फोन : 0141-2702222
कार्यालय - 'लौकान्तिक' ए-31a अनीता कॉलोनी,
अम्बेडकरमार्ग, बजाजनगर, जयपुर (राज.)

मुद्रण व्यवस्था : जैन कम्प्यूटर्स, Mob. : 94147-17816

प्रकाशकीय

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति अबतक, जैन कथा संग्रह के चार भाग, भव्य प्रमोद नामक अनुपम कृति प्रकाशित कर चुकी है, जिसकी हजारों प्रतियों समाज में पहुँच कर भव्यात्माओं के हृदय का हार बन गई हैं। अब यह समिति अपना छटवा पुष्प पण्डित आशाधरजी कृत 'अध्यात्म रहस्य' ग्रंथ प्रकाशित करते हुए आनंद का अनुभव कर रही है। समिति द्वारा भविष्य में भी **''आचार्यों/विद्वानों द्वारा प्रणीत अप्रकाशित/अनुपलब्ध ग्रंथों''** का प्रकाशन करना प्रस्तावित है।

इस संदर्भ में प्रकाशन को अधिक उपयोगी बनाने हेतु आपके सुझाव व विचार सादर आमंत्रित हैं। साथ ही आपके पास/आपके मन्दिरजी में उपलब्ध सर्वजनहिताय साहित्य हो तो, हमें उसकी एक प्रति या फोटोस्टेट पहुँचाकर इस महान कार्य में सहभागी बनें, ताकि हम उन्हें आगामी प्रकाशनों में शामिल कर सकें।

अन्त में ग्रंथ के मूल लेखक पण्डित आशाधरजी एवं व्याख्याकार पण्डित मानमलजी जैन का तथा समिति के संयोजक व प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री एवं सह-सम्पादक श्री सुशीलकुमार जैन का समिति हार्दिक आभार ज्ञापित करती है, जिन्होंने अथक् परिश्रम कर यह आध्यात्मिक ग्रंथ समाज को उपलब्ध कराके सराहनीय व अनुकरणीय कार्य किया है।

समिति के पदाधिकारियों, परमसंरक्षक आदि स्थाई सदस्यों का भी आभार व्यक्त करते हैं, समिति के कोषाध्यक्ष श्री विनोद जैन का विशेष आभार मानते हैं; क्योंकि इस कार्य में आदि से अन्त तक उनका बहुमूल्य सहयोग रहा है। अन्त में उन सभी व्यक्तियों के भी हृदय से आभारी हैं, जिनसे हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ।

समस्त भव्य जीव इसका भरपूर लाभ लें एवं साथ ही इस ग्रंथ को अपनी ओर से **किसी एक जिनमन्दिर में भेजकर ज्ञानदान का लाभ प्राप्त कर दूसरे जीवों को स्वाध्याय तप में निमित्त बनकर अपने परिणाम विशुद्ध करें।** भारत भर के समस्त दिगम्बर जिनमन्दिरों में भेजने का यह महान एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य आपके उदार सहयोग के बिना मुश्किल है।

आप भी जिनमन्दिरों में ग्रंथ पहुँचाकर, प्रकाशन में सहयोग कर तथा समिति के सदस्य बनकर अपना बहुमूल्य योगदान दे सकते हैं। एतदर्थ राशि **''श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति''** के **एकाउन्ट नं.**0247000100612971 **पंजाब नेशनल बैंक में जमा कर सूचित कर रसीद प्राप्त कर सकते हैं।**

ग्रंथ के आकर्षक मुद्रण हेतु जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर को समिति धन्यवाद ज्ञापित करती है, जिन्होंने इस ग्रंथ को सर्वांगीण रूप से आकर्षक बनाया है एवं प्रूफ-रीडिंग कर ग्रंथ को त्रुटि रहित बनाने का प्रयास किया है, फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो आप हमें अवश्य अवगत करावें, ताकि उसे आगामी संस्करण में सुधारा जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ का आद्योपान्त स्वाध्याय कर समस्त जीव स्वयं धर्म सन्मुख हों एवं अन्य जीवों को भी स्वाध्याय की प्रेरणा देकर धर्म सन्मुख करें। यह ग्रंथ आपके लौकिक व पारलौकिक जीवन की सफलता में प्रबल निमित्त बने। – इसी पवित्र पावन भावना के साथ...।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति
'लौकान्तिक', ए-31ए, अनीता कॉलोनी अम्बेडकर मार्ग, बजाज नगर,
जयपुर-302015 (राज.) मोबाइल : 094147-17816

विषय सूची

विषय	श्लोक	पृष्ठ
सम्पादकीय	-	७
मनोगत	-	९
ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय	-	११
अध्यात्मविद्या की रहस्यमयता	-	१८
मंगलाचरण	१-२	१
योग-पारगामी का स्वरूप	३	९
स्वात्मा का स्वरूप	४	११
शुद्ध स्वात्मा का स्वरूप	५	१३
श्रुति का स्वरूप	६	१५
मति का स्वरूप	७	२२
ध्याति का लक्षण	८	२६
दृष्टि का लक्षण	९	२८
संवित्ति और दृष्टि	१०	२९
दृष्टि का माहात्म्य	११	३२
श्रुतसागर का मन्थन व दृष्टिप्राप्ति	१२	३५
सद्गुरु का स्वरूप	१३	३९
रत्नत्रयात्मक निजात्मा ही मोक्षमार्ग	१४	४१
निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय	१५-१९	४३
आत्मदर्शन का उपाय	२०	५७
आत्मा की विश्वरूपता	२१	६०
चैतन्यज्योति का लक्षण	२२	६३
स्व-पर भेद की सिद्धि	२३	६६
उपयोग का स्वरूप व भेद	२४	६९
आत्मशुद्धि का मार्ग	२५-२६	७४
आत्मा में अशुद्धि का स्वरूप व भेद	२७	८४
मोह-राग-द्वेष का स्वरूप एवं फल	२८	८८
अविद्या का स्वरूप	२९	९१

विद्या का स्वरूप (सच्चिदानदमय स्वरूपानुभव)	३०	९५
आत्मा का सत्स्वरूप	३१-३२	९८
चित्स्वरूप आत्मा	३३-४०	१०६
आत्मा का आनन्द स्वभाव	४१	१२५
आत्मविकास का उपाय	४२	१३०
योगी का स्वरूप संचेतन	४३	१३५
परमब्रह्म की प्राप्ति हेतु आत्मसंस्कार	४४-४६	१३७
परम-एकाग्रता से संवर-निर्जरा	४७	१४२
योगी का पूर्व परिणति पर खेद	४८-५०	१४६
भ्रान्ति की निवृत्ति पर आनन्द का अनुभव	५१	१५१
योगी की वैराग्य परिणति	५२-५५	१५४
अशुभ-शुभ व शुद्ध उपयोग	५६-५७	१६७
योगी की निर्भयता	५८	१७५
परम-एकाग्रता से जीवनमुक्ति	५९	१७७
योगी के सर्व कर्मत्याग की भावना	६०	१७८
भावकर्म का स्वरूप	६१	१८१
द्रव्यकर्म का स्वरूप	६२	१८३
नोकर्म का स्वरूप	६३	१८४
स्वात्मोपलब्धि के लिए हेय-उपादेय	६४	१८५
परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि	६५	१९१
कर्तृत्व का त्याग व भवितव्यता का ग्रहण	६६	१९५
सम्यक् दर्शन का स्वरूप	६७	२०३
सम्यक् ज्ञान का स्वरूप	६८-६९	२०८
सम्यक् चारित्र का स्वरूप	७०	२१०
निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय ही कल्याणभूत	७१	२१२
शुद्धात्मा की महिमा व शुद्धात्मोपलब्धि की कामना	७२	२२१
परिशिष्ट –		
अध्यात्म रहस्य की श्लोकानुक्रमणिका	-	२२५
पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका	-	२२६
व्याख्या में प्रयुक्त संदर्भ ग्रन्थ	-	२३०

सम्पादकीय

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आये पूर्व परम्परा से प्राप्त आत्महितकारी सारभूत परम कल्याणकारी जिनवाणी को आचार्यों ने विषयों के ताप से संतप्त संसारी जीवों के लिये चार अनुयोगों में लिपिबद्ध किया।

यह 'अध्यात्म रहस्य' ग्रंथ मूलत: पण्डित आशाधरजी का है। इसमें सागार धर्मामृत व अनगार धर्मामृत जैसे चरणानुयोग प्रधान ग्रंथों की रचना करने वाले पण्डितजी के इतने सूक्ष्म अध्यात्म के विवेचन को पढ़कर उनकी रुचि एवं अध्यात्म की गहरी पकड़ स्पष्ट दिखाई देती है। इस ग्रंथ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण आगम एक मात्र शुद्धात्मा की प्रतीति-अनुभूति एवं रमणता के लिए ही समर्पित है। इस ग्रंथ की दूसरी विशेषता यह है कि व्याख्याकार पण्डित मानमलजी ने इसमें बीच-बीच में ग्रंथान्तरों के प्रमाण प्रस्तुत कर इसे और भी महत्त्व पूर्ण एवं पाठकों के लिए रुचिकर तथा उपयोगी बना दिया है, विषय की सम्बधता तथा आध्यात्मिकता भी इस तरह समाहित की गई है कि एकबार पढ़ना आरम्भ करने के बाद लगता है पढ़ते ही रहो। इस सन्दर्भ में धर्म मंगल की सम्पादिका लीलावती कांतिलाल जैन औंध पुणे से हमें एक पत्र प्राप्त हुआ है, जिसे हम यहाँ मूलरूप में प्रकाशित करने का लोभ सम्भरण नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि उसे पढ़कर आपको स्वयमेव ही इस ग्रंथ को पढ़ने का भाव जगेगा। मूलत: पत्र इसप्रकार है–

''श्री डॉ. मानमलजी ने पं. आशाधरजी रचित, अप्रकाशित 'अध्यात्म रहस्य' की प्रेस कॉपी पढ़ने के लिए दी और पढ़ना आरंभ किया तो इस पुस्तक को मैं विराजमान नहीं कर सकी। लगातार पढ़कर पूरा करने पर जो स्वाध्याय के आनंद की उर्मियाँ उठी, उसका वर्णन नहीं कर सकती। जब किसी रहस्य का ऐसा सुंदर, अविष्कार पढ़ने

में आता है तो अध्यात्म प्रेमी जीव के समक्ष सारे रहस्य के पट खुल जाते हैं, तब वह कृति रहस्य से परे एक खुली किताब बन जाती है। अध्यात्म रहस्य का उद्घाटन करने वाले ग्रंथ का भाईसाहब मानमलजी ने सरल-सुबोध भाषा में जो विश्लेषण किया है सबके लिए समझने योग्य एवं अनेक शंकाओं का समाधान करने वाला है। अनेकों संदर्भ गाथाएँ, श्लोक आदि के साथ विस्तार किया है, वह बेजोड़ तो है ही, मानो मूल शुद्ध सुवर्ण को सुन्दर नक्काशी से सजाया गया रत्नजड़ित अलंकार सा प्रतीत होता है। उनके सूक्ष्म अध्ययन की गहरी पेठ का वह आइना ही है। आत्मानुभूति, आत्मस्वाद, आत्मशुद्धि की विधि, धर्मध्यान, दृष्टि का महात्म्य, शुद्धोपयोग इत्यादि अनेक विषयों का क्रमगत चिंतन एवं उसका विस्तार इस संदर्भ में पण्डित आशाधरजी के सूक्ष्म चिंतन-अनुभव का निचोड़ लगता है, उसका यथार्थ अर्थ समझाने वाली यह कृति सभी स्वाध्याय प्रेमियों के लिए संग्रहणीय एवं बार-बार पठनीय है। ऐसे सरल, सुन्दर प्रकाशन के लिए डॉ. मानमलजी जैन का हृदय से अभिनंदन करती हूँ।''

अधिक क्या लिखें ? जब आप मूल ग्रंथ का स्वाध्याय करेंगे तो स्वयं ही इसकी महिमा मण्डित कर अपने को गौरवान्वित करेंगे, इस ग्रंथ को पढ़ने से अनेक ग्रंथों का परिचय होगा एवं उनका समग्ररूप से स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिलेगी।

प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन है कि यद्यपि इसके प्रकाशन में पूर्ण सावधानी बरती गई है तथापि यदि कोई तात्त्विक, सैद्धान्तिक या तूलिका की भूल रह गई हो तो कृपया अवगत कराने का कष्ट करें, जिससे आगामी संस्करण में उसे ठीक किया जा सके।

आशा है सभी भव्यजन इस ग्रंथ का लाभ उठाते हुये अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

– पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

मनोगत

पण्डित आशाधरजी का अध्यात्म रहस्य ग्रंथ २०वीं सदी के मध्य तक अनुपलब्ध रहा। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार को एक गुटके के रूप में इसकी प्रति भट्टारकीय शास्त्र भण्डार अजमेर में प्राप्त हुई। उन्होंने सर्वप्रथम इसकी हिन्दी भाषा में टीका की, जो वीर सेवा मंदिर द्वारा १९५७ में प्रकाशित की गई। श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल जैतपुर (गुजरात) द्वारा इस हिन्दी टीका का गुजराती अनुवाद सन् १९८७ में प्रकाशित हुआ।

श्री शान्तिकुमारजी ठवली देवलगांवराजा (महा.) ने गुजराती प्रकाशन भेजकर हिन्दी में विस्तृत व्याख्या लिखने की प्रेरणा की। उनकी भावना के अनुसार पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार की टीका को आधार बनाकर अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों, विशेष रूप से आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों से सदंर्भ लेकर मैंने शक्ति अनुसार विस्तृत व्याख्या लिखने का यह प्रयास किया है।

हाड़ोती क्षेत्र में आध्यात्मिक चेतना के प्राण पूज्य बाबू ज्ञानचंदजी एवं अध्यात्म के तलस्पर्शी विद्वान् बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे जैनदर्शन व धर्म को पढ़ने की प्रेरणा दी, रुचि पैदा की और जिनके सान्निध्य में अध्यात्म के रहस्यों को समझने की बुद्धि विकसित हुई।

मैं उन ग्रंथकारों का भी आभार मानता हूँ जिनके ग्रंथों का मुझे व्याख्या लिखने में साहाय्य प्राप्त हुआ है।

अध्यात्म-विज्ञान ही सम्यक् रत्नत्रय प्राप्ति का, अतीन्द्रिय आनन्द की उपलब्धि का उपाय दर्शाता है। जिज्ञासु जीव आचार्यों के उपदेशों के सारभूत इस ग्रंथ के अध्ययनादि से अध्यात्म विद्या की सही समझ विकसित कर अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द की उपलब्धि के मार्ग पर आरोहण करें, इस मंगल भावना के साथ प्रस्तुत कृति अध्यात्म रसिकों को सादर समर्पित है। वास्तव में पण्डित आशाधरजी

के अध्यात्म रहस्य ग्रंथ में वर्णित अध्यात्म की छवि अन्य अनेक शास्त्रों में भी उपलब्ध है। मैंने तो मात्र उन शास्त्रों के अंशों/प्रकरणों को पण्डितजी के अध्यात्म रहस्य के उन श्लोकों के साथ संकलित-संयोजित करने का उद्यम किया है। कहीं-कहीं तो उन कथनों को हू-बहू लिया है तो कहीं-कहीं उनके भावों को अपनी व उनकी मिश्रित भाषा में इस व्याख्या में सम्मिलित किया है। वास्तव में इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, मात्र ग्रंथान्तरों में उपलब्ध अध्यात्म को ही मैंने इस ग्रंथ में संकलित कर यथास्थान रखने का प्रयास किया है।

श्री सुशीलकुमारजी जैन कोटा टाइपिंग से लेकर प्रेसकॉपी तैयार करने तक निरन्तर मेरे साथ कार्यशील रहे। उनके सहयोग बिना यह कार्य इसरूप में नहीं हो पाता। इस लेखन को परिमार्जित करने में पं. ऋषभकुमारजी शास्त्री उदयपुर, श्री भानुकुमारजी शास्त्री कोटा, श्रीमती लीलावतीजी सम्पादक, धर्ममंगल पुणे का सहयोग मुझे मिला है। पं. शिखरचंदजी शास्त्री छिंदवाडा ने अन्वयार्थ को पुनः लिखकर श्रेष्ठतम सहयोग प्रदान किया है।

पं. अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य देवलाली ने मूल श्लोकों का सरल हिन्दी में सरस पद्यानुवाद कर इस ग्रंथ को और भी सहज ग्राह्य बना दिया है, एतदर्थ उनके प्रति भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

सम्पादन-कार्य का दायित्व पं. रमेशचंद जैन शास्त्री जयपुर ने बखूबी निभाया है। अत: मैं इन सभी विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ। यह कृति इन सबके श्रम का प्रतिफल है। जो कुछ कमियाँ रह गई हैं, वे सब मेरी अल्पज्ञता का फल है, सुधीजन सुधार कर स्वाध्याय करें व मुझे भी अवगत करावें।

अन्य भी जिन-जिन से प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग व प्रेरणा मिली है, उनका भी मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

श्री मुनीश जैन कोटा ने इसको टाइप करने के कार्य को तन्मयता से अति श्रमपूर्वक पूर्ण किया है, वे धन्यवाद के पात्र हैं।

– डॉ. मानमल जैन

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय

ग्रन्थ परिचय –

अध्यात्म रहस्य पं. आशाधर की संस्कृत भाषा में लिखी प्रौढ़ कृति है। अपने पिता की आज्ञा से योग शास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने वालों के लिए प्रिय, प्रसन्न व गम्भीर इस शास्त्र की रचना उन्होंने की थी। यह शास्त्र अपने अर्थ को प्रतिपादन करने में समर्थ होने से प्रसन्न है, ग्रन्थ रचना सूत्र रूप में होने से इसकी अर्थ व्यवस्था अन्य शास्त्रों के ज्ञान की अपेक्षा रखती है, इसलिए यह गम्भीर है और यह योग (अध्यात्म) का मर्म समझाकर योगाभ्यास की भावना उद्दीपन कराने वाला होने से योगियों को प्रिय है। इसीलिए इसका अपर नाम योगोद्दीपन-शास्त्र भी है।

इस ग्रन्थ में कुल ७२ पद हैं। इन पदों में अध्यात्म विषयक ग्रन्थों के मन्थन से प्राप्त निष्कर्ष, जो मोक्षमार्ग के आधारभूत सिद्धान्त हैं सुव्यवस्थित रूप से संजोये गये हैं। ग्रन्थकार की दृष्टि सारभूत कथन करने पर रही है, इसलिए पद्यरूप रचना होते हुए भी यह ग्रन्थ आध्यात्मिक सूक्तियों के संग्रहरूप है। इस ग्रन्थ में योग से तात्पर्य आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा नियमसार की गाथा १३९ में परिभाषित योग से है।

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥

गाथार्थ:- विपरीताभिनिवेश का परित्याग करके जो जैनकथित (गणधरदेव आदि जिन मुनिनाथों द्वारा कहे हुए) तत्त्वों में आत्मा को लगाता है, उसका निज भाव वह योग है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार गाथा-१३६-१३८ में योगभक्ति का स्वरूप इसप्रकार कहा है। गाथा-१३८ इसप्रकार है –

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्ति जुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो॥

गाथार्थ:- जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है

(अर्थात् आत्मा में आत्मा को जोड़कर सर्व विकल्पों का अभाव करता है) वह योगभक्ति वाला है दूसरे को योग किस प्रकार हो सकता है ?

योगी निरूपम-सहज-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप, नित्य आत्मा में उपयोग को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके, रागादि का परिहार करता हुआ निज अखण्ड अद्वैत परमानंद स्वरूप के साथ निज कारण परमात्मा को जोड़ता है, ऐसा योगी सिद्धत्व को प्राप्त करता है अर्थात् मोक्षलक्ष्मी का स्वामी होता है। इसे ही निरुपराग मोक्षमार्ग कहते हैं।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय व्यवहार-निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है।

इस शास्त्र में व्यवहार-निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का प्रतिपादन शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा और उपयोग की मुख्यता से किया गया है।

शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा के प्रति जो तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थिति रूप अभिमुखता है वह गौण (व्यवहार) दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उन प्रतीति, अनुभूति तथा स्थिति में जो उपयुक्तता (उपयोग की एकाग्र प्रवृत्ति) वह मुख्य (निश्चय) दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जो जीव लब्धि के वश तत्त्वार्थ के अभिनिवेशरूप श्रद्धात्मक शुद्धि और तपश्चरणमयी सम्यक्चारित्ररूप शुद्धि को धारण करते हैं वे स्वात्मप्रत्यय-निजात्म प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन, स्वात्मसंवित्ति – निजात्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान, निजात्ममग्नतारूप सम्यक्चारित्रमयी पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करते हैं। अपने शुद्ध आत्मा में राग-द्वेष-मोह रहित शुद्ध उपयोग को धारण करना ही अनिर्वचनीय योग है, जिसका फल निर्वाण है। इसलिए योगी को रागादि अति उग्रशत्रुओं की अनुत्पत्ति व विनाश के लिए उद्यमी होकर नित्य ही शुद्धचिद्रूप-स्वात्मा की भावना करनी चाहिये। श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ उपयोग का आश्रय करते हुए शुद्धोपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहने का पुरुषार्थ योगी की श्रेष्ठ निष्ठा है। नित्य शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की भावना करने वाला ही परमानन्द में लीन होता है।

ग्रन्थकार का परिचय -

बहुश्रुत विद्वान पण्डित आशाधरजी ने अपनी तीन रचनाओं के अन्त में अपनी

प्रशस्ति विस्तार से दी है। सबसे अन्त में विक्रम संवत् १३०० में अनगार धर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका रची थी, अत: उसमें पूर्ण प्रशस्ति है। उसके अनुसार उनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम श्री रत्नी, पत्नी का सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड़ है। वे बघेरवाल (व्याघ्रेरवाल) वैश्य थे। माण्डलगढ़ (मेवाड़-जिला भीलवाड़ा-राजस्थान) के निवासी थे। इस क्षेत्र का नाम उस समय सपादलक्ष था। शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण से त्रस्त होकर उनके पिता परिवार सहित मालवा की राजधानी धारा में जाकर बस गये। यह प्रवास विक्रम संवत् १२४९ के लगभग हुआ। उनके पुत्र छाहड़ को मालवा नरेश अर्जुनवर्मदेव ने राज्य में उच्च पद दिया।

उस समय धारा नगरी विद्या का केन्द्र थी। वहाँ शारदा पीठ नाम का विद्यापीठ था, जिसकी ख्याति दूर-दूर तक थी। धारा में रहते हुए आशाधर ने वादिराज पं. धरसेन के शिष्य महावीर से जैन न्याय और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ी।

ग्रन्थ प्रशस्तियों में उन्होंने लिखा है कि वे जैन धर्म के उदय के लिए धारानगरी छोड़कर श्रावक संकुल नलकच्छपुर (नालछा) में जहाँ अर्जुनवर्मदेव का राज्य था, आकर रहने लगे। वे लगभग ३५ वर्ष के लम्बे समय तक नालछा में ही रहे और वहाँ के नेमिचैत्यालय में एकनिष्ठता से ज्ञान की उपासना व साहित्य रचना का कार्य किया। वे अपने समय के बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अपने समय के समस्त जैन ग्रन्थों को आत्मसात् कर लिया था। धर्मामृत की टीका में उद्धृत पद्यों की संख्या एक हजार से ऊपर है। पं. नेमचन्द डोणगाँवकर (देवलगाँवराजा- महाराष्ट्र) ने उनके ग्रन्थों व टीकाओं में उल्लेखित ग्रन्थों का विवरण संकलित किया है, उनके द्वारा उल्लेखित ग्रन्थों में ११४ दिगम्बर ग्रन्थ, ११ श्वेताम्बर ग्रन्थ व २१ जैनेतर साहित्य है। इससे ज्ञात होता है कि पं. आशाधर का अध्ययन अति गम्भीर गहन एवं विस्तृत था। इसलिए उन्हें पुस्तक शिष्य भी कहा जाता था। उन्होंने न्याय, व्याकरण, काव्य साहित्य, कोश, धर्मशास्त्र, अध्यात्म आदि विषयों पर ग्रंथ रचना की। पंडित नेमचन्द डोणगाँवकर ने अपनी रचना – 'पं. आशाधर-व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' में उनकी २६ प्रकाशित, एवं ९५ अप्रकाशित रचनाओं का नामोल्लेख व उपलब्धि स्थान का विवरण भी दिया है। उनकी साहित्य रचना से ज्ञात होता है कि उनका संस्कृत भाषा का शब्द भण्डार अपरिमित था और वे उसका उपयोग करने में भी कुशल थे। इसी

से उनकी रचनाओं की भाषा क्लिष्ट है। धर्मामृत, राजीमतिविप्रलंभ आदि ग्रन्थों के भावों को स्पष्ट करने हेतु स्वयं ने ही उनकी टीका भी लिखी।

वे अपने समय के विशिष्ट लेखक होने के साथ ही सुप्रतिष्ठित शिक्षक भी थे। उनकी प्रज्ञा से प्रभावित होकर उस काल के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने उनके पास अध्ययन किया। जिनमें भट्टारक देवचन्द्र (व्याकरण) एवं भ. विशालकीर्ति (न्यायशास्त्र), भ. विनयचन्द्र (धर्मशास्त्र), मुनि उदयसेन, धारा के राजगुरू मदन (काव्यशास्त्र) एवं कवि अर्हदास प्रमुख हैं। उनके गुरुत्व से प्रभावित हो मुनि उदयसेन ने उन्हें 'कलि कालिदास एवं नय विश्वचक्षु' कहा है। मदन कीर्ति ने 'प्रज्ञापुंज' कहकर संबोधित किया है। भट्टारक देवन्द्रकीर्ति (१४५०-९८) ने आशाधर जी को 'सूरि' और 'सम्यग्दृष्टियों में शिरोमणी' कहा है। कवि अय्यपार्य ने विक्रम संवत् १३६६ में रचित कल्याणाम्भुदय में पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है उसमें अन्य दिगम्बर जैन आचार्यों के साथ पं. आशाधरजी का नामोल्लेख भी है।

भट्टारक युग में पैदा हुए पं. आशाधरजी सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों में निष्णात थे। धर्मामृत ग्रन्थ व उसकी टीकाएँ उनके पाण्डित्य और विस्तृत अध्ययन की परिचायिका हैं। मूलग्रन्थ से सम्बद्ध चर्चाओं को उन्होंने टीका में ग्रन्थान्तरों के प्रमाण देकर पुष्ट किया है। १२,२०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ में लगभग १००० उद्धृत श्लोक हैं। जयपुर से लेकर मूड़बिद्री तक के ग्रन्थ भण्ड़ारों में उनकी रचनाओं की प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जो उनकी सम्पूर्ण भारत वर्ष में प्रामाणिक विद्वान के रूप में प्रतिष्ठा एवं स्वीकार्यता की स्पष्ट द्योतक है।

आचार ग्रन्थों व क्रिया काण्ड सम्बंधी साहित्य की रचना करते हुए भी अध्यात्म ही उनके लिए श्रेय था। इसीलिए जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में सिद्धों की वन्दना की है उसी प्रकार पं. आशाधरजी ने भी 'अनगार धर्मामृत का' प्रारम्भ सिद्धों की वंदना से किया है। उनका रत्नत्रय विधान शुद्धात्मा के स्वरूप व उसकी प्राप्ति के मार्ग का, निश्चय नय की मुख्यता से निरूपण करता है। अध्यात्म रहस्य के श्लोक कृ. ६७,६८,७०,७१ रत्नत्रय विधान के पूर्व रचित श्लोक हैं। अध्यात्म रहस्य उनकी अन्तिम रचनाओं में से एक है। रत्नत्रय विधान आध्यात्मिक भक्ति साहित्य को उनकी अनुपम भेंट है।

प्रकाशित-उपलब्ध ग्रन्थ

१. **सागार धर्मामृत** (भव्य कुमुदचंद्रिका टीका सहित)
प्रकाशक- माणिकचंद ग्रथमाला बम्बई, वि. संवत् १९६२, ई. सम्वत् १९१५

२. **अनगार धर्मामृत** (भव्य कुमुदचंद्रिका टीका सहित)
प्रकाशक- माणिकचंद ग्रथमाला बम्बई, विक्रम संवत् १९७६

३. **सागार धर्मामृत** (भव्य कुमुदचंद्रिका टीका सहित व ज्ञानदीपिका पंजिका सहित हिन्दी टीका- पं. कैलाशचंद शास्त्री)
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, विक्रम संवत् २०३४, ईस्वी सम्वत् १९७८

४. **अनगार धर्मामृत** (भव्य कुमुदचंद्रिका टीका सहित व ज्ञानदीपिका पंजिका सहित हिन्दी टीका- पं. कैलाशचंद शास्त्री)
प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, विक्रम संवत् २०३४, ईस्वी सम्वत् १९७७

५. **जिनयज्ञकल्प** (प्रतिष्ठा सारोद्धार-हिन्दी टीका सहित)
प्रकाशक- जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, विक्रम संवत् १९७४, ईस्वी सम्वत् १९१७

६. **मूल आराधना टीका** (भगवती आराधना की टीका)
प्रकाशक- जीवराज ग्रंथमाला सोलापुर, ईस्वी सम्वत् १९३५

७. **त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र सटीक** (मराठी भाषा टीका सहित) आचार्य जयसेन व गुणभद्र के महापुराण का सार
प्रकाशक- माणकचंद्र जैन ग्रंथमाला, ईस्वी सम्वत् १९३७

८. **इष्टोपदेश-टीका** प्रकाशक- माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला,
हिन्दी टीका सहित : प्रकाशक- वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, सन् १९५४,
परमश्रुत प्रभावक मण्डल मुम्बई, वीर निर्वाण संवत् २४८०

९. **जिनसहस्रनाम-सटीक** प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणासी

१०. **रत्नत्रय विधान** भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, (ज्ञानपीठ पूजांजली में) सन् १९५७

११. **नित्य महोद्योत** प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणासी, जिनसहस्रनाम सटीक के साथ, अभिषेक पाठ संग्रह बनजीलाल जैन ग्रंथमाला से

१२. **अध्यात्म रहस्य** (पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार की हिन्दी टीका)
प्रकाशक- वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, सन् १९५७
गुजराती अनुवाद - श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल जैतपुर, सन् १९८७

१३. **ब्राह्मी स्तुति - सरस्वतिस्तव**
प्रकाशक- बघेरवाल संदेश - पण्डित आशाधर विशेषांक, सन् १९९३

अप्रकाशित-उपलब्ध ग्रन्थ

क्र.	रचना का नाम	हस्तलिखित प्रति जहाँ उपलब्ध है
१.	भरतेश्वराभ्युदय काव्य (स्वोपज्ञ टीका)	सोनागिर ग्रन्थ भण्डार कन्नड़ प्रति- जैन मठ, कोल्हापुर
२.	क्रिया कलाप	पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई
३.	भूपाल चतुर्विंशतिका टीका	झालरापाटन तथा सरस्वती भवन, उज्जैन
४.	सिद्ध पूजा	अभिनन्दननाथजी का मन्दिर, बून्दी
५.	कल्याणमन्दिर स्तोत्र टीका	पाटोदी मन्दिर, जयपुर
६.	सरस्वती स्तुति	सम्भवनाथ मन्दिर, उदयपुर
७.	प्रमेय रत्नाकर	सोनागिर ग्रन्थ भण्डार
८.	पूजा विधान	सम्भवनाथ मन्दिर, उदयपुर
९.	जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय	सरस्वती भवन, उज्जैन
१०.	गंधकुटी पूजा	सरस्वती भवन, उज्जैन
११.	विमान शुद्धि विधान	सोनागिर, भट्टारक मन्दिर
१२.	कर्मदहन व्रत विधान	दि. जैन मन्दिर, वल्हाणपुर
१३.	सुप्रभात स्तोत्र	मूड़बिद्री ग्रन्थ भण्डार
१४.	चतुर्विंशति जिन पूजा	मूड़बिद्री ग्रन्थ भण्डार
१५.	स्वप्नावली	मूड़बिद्री ग्रन्थ भण्डार
१६.	सिद्धिप्रिय स्तोत्र टीका	दिवानजी का मन्दिर, कांमा
१७.	आराधना सार वृत्ति	जैन मन्दिर, जोबनेर
१८.	रत्नत्रय व्रत कथा	पाटोदी मन्दिर, जयपुर
१९.	जिनमहाभिषेक	लश्कर मन्दिर , जयपुर

२०.	महावीर पुराण	बोरसली मन्दिर, कोटा
२१.	शान्ति पुराण	लश्कर मन्दिर, जयपुर
२२.	देव-शास्त्र-गुरु पूजा	आमेर, जयपुर
२३.	सोलह कारण पूजा	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२४.	सरस्वती अष्टक	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२५.	पादुका अष्टक	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२६.	दशलाक्षणिक जयमाला	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२७.	व्रतारोपण	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२८.	महर्षि स्तवन	चन्द्रनाथ मन्दिर, देवलगांवराजा
२९.	जिन यज्ञकल्प	झालरापाटन तथा सरस्वती भवन, उज्जैन
३०.	स्तोत्र टीका	ठोलियों का मन्दिर, जयपुर
३१.	रत्नत्रय पूजा	ठोलियों का मन्दिर, जयपुर
३२.	अष्टांग हृदय संहिता	ठोलियों का मन्दिर, जयपुर
३३.	त्रिषष्ठी स्मृति शास्त्र	पाटोदी मन्दिर, जयपुर
३४.	त्रिभंगी सुबोधिनी टीका	लश्कर मन्दिर, जयपुर
३५.	ध्वजारोहण विधि	ग्रंथ भण्डार, आमेर
३६.	प्रतिष्ठा विधि	पार्श्वनाथ मन्दिर, चौगान-बून्दी

अनुपलब्ध ग्रन्थ

पं. आशाधर ने अपनी निम्न रचनाओं के उद्धरण अपनी अन्य रचनाओं में दिये हैं, परन्तु ये ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हैं।

रचनाकाल – जिनयज्ञकल्प में १० ग्रन्थों के नाम दिये हैं, जो विक्रम संवत् १२८५ के पूर्व की रचनायें होनी चाहिये। सागार धर्मामृत टीका में अन्य ४ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है – १. काव्यालंकार टीका, २. जिनयज्ञकल्प सटीक, ३. त्रिषष्टि स्मृति टीका, ४. नित्यमहोद्योत। इसप्रकार १२८५ से १२९६ (विक्रम सं) के मध्य ५ ग्रन्थों की रचना हुई। अनगार धर्मामृत टीका में १. राजीमती विप्रलम्भ, २. अध्यात्म रहस्य ३. रत्नत्रय विधान का उल्लेख मिलता है। ये ग्रन्थ १२९६ से १३०० के मध्य रचित हुए।

卐 शास्त्राभ्यास से लाभ 卐

योगसार प्राभृत में आचार्य अमितगति शास्त्र-स्वाध्याय की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं–

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम्॥४२९॥

सरलार्थ :– क्रोधादि कषाय रूपी रोगों के लिए सच्ची औषधि शास्त्र है; सातिशय पुण्य परिणाम एवं पुण्यकर्म के बंध के लिए सर्वोत्तम कारण शास्त्र है; जीवादि सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, नौ पदार्थों के सम्यक् परिज्ञान के लिए शास्त्र ही चक्षु है और इसभव तथा परभव के सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए भी शास्त्र ही है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में लिखते हैं –

देखो शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं –

१. **क्रोधादिक की तो मन्दता होती है।**
२. **पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।**
३. **अतिचंचल मन भी एकाग्र होता है।**
४. **हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।**
५. **हेय-उपादेय की पहिचान होती है।**
६. **लोक में महिमा-यश विशेष होता है।**
७. **आत्मज्ञान (ज्ञान आत्मसन्मुख) सन्मुख होता है।**
८. **अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।**
९. **सातिशय पुण्य का बन्ध होता है।**
१०. **स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है।** ●

अध्यात्म विद्या की रहस्यमयता
(अध्यात्म-विज्ञान)

इस ग्रन्थ का नाम पं. आशाधरजी ने अध्यात्म रहस्य निर्धारित किया है। अध्यात्म शब्द, अधि+आत्मा इन दो शब्दों से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है आत्मा के निकटवर्ती होना। आत्मा के निकटवर्ती होने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना और उसे जगत के समस्त पदार्थों से अधिक मानना आवश्यक है।

यथासंभव ज्ञान-सुखादि गुणों में 'आ' अर्थात् सर्वप्रकार से 'अतति' अर्थात् वर्तता है वह आत्मा है अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय ही क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्र-मंदादिरूप से जो **'आ'** अर्थात् पूर्णरूप से **'अतति'** वर्तता है वह आत्मा है। अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य – इन तीन धर्मों द्वारा जो **'आ'** अर्थात् पूर्ण रूप से **'अतति'** अर्थात् वर्तता है वह आत्मा है। – द्रव्यसंग्रह टीका-गाथा ५७

इसलिए निज शुद्ध आत्मा की प्रतीति अथवा उसको जानकर उसमें 'मैं-पने' की स्थापना पूर्वक उसमें उपयोग की लीनतारूप अनुष्ठान अध्यात्म विद्या है और ज्ञान की जिस शाखा में इस विद्या का सांगोपांग विवेचन किया गया है वह अध्यात्म-विज्ञान है। इस अनुष्ठान को जैन दर्शन में रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहा गया है। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।)

निज शुद्धात्मा में अनुष्ठान में बाधक तत्त्व मोह-राग-द्वेष हैं। मोह-राग-द्वेष रूपी विकारी भाव और अल्पज्ञता का अभाव करते हुए निज शुद्धात्मा में प्रवृत्ति ही अध्यात्म विद्या है। इस विद्या का कथन जैन शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार नय पूर्वक किया गया है। पं. आशाधरजी ने मुख्य व गौण शब्द का प्रयोग किया है।

शुद्ध चिदानन्दमय (ज्ञान व आनन्दमय चेतना स्वरूप) निज

आत्मा के प्रति तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थितिरूप अभिमुखता को गौण दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा गया है। उन प्रतीति, अनुभूति और स्थिति (लीनता) में उपयोग की प्रवृत्ति को मुख्य दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा है। आत्म शुद्धि की यह विधि इन्द्रिय विषयों से विरक्ति और निज शुद्धात्मा में उपयोग की एकाग्रतारूप परिणति अध्यात्म शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है। इसे योग शास्त्र भी कहा जाता है।

अभेद रत्नत्रयरूप आत्म शुद्धि की विद्या के साधक को अध्यात्म में योगी कहा गया है। अध्यात्म में स्पर्शादि पांच इन्द्रियों व पर में व्यापाररूप मन के व्यापार में आसक्ति को सब अनर्थों का मूल (निरन्तर आकुलता व चित्त की चंचलता का जनक) माना जाता है, अतः इनके प्रति आसक्ति के अभाव पूर्वक अध्यात्म विद्या में प्रवृत्ति होती है।

अध्यात्म विद्या की रहस्यमयता :

आचार्य वीरसेन स्वामी ने (धवला पुस्तक २) में अन्तराय कर्म को रहस्य कहा है। अन्तराय कर्म आत्मा के वीर्य गुण (जिसका कार्य अनुभव में नहीं आता) को आवरित करता है। अन्तराय कर्म का नाश आत्मा के दर्शन, ज्ञान व सुख गुण के घातक शेष तीन कर्मों (दर्शनावरण, ज्ञानावरण व मोहनीय) के नाश का अविनाभावी है। अन्तराय कर्म के नाश होने पर अघातिया कर्म (आयु, नाम, गौत्र व वेदनीय) भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं। अध्यात्म विज्ञान में सर्व कर्मों के बीजभूत मोह के नाश द्वारा अन्तराय कर्म सहित सर्व कर्मों के आत्यन्तिक क्षय द्वारा आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था की प्राप्ति की विद्या का प्रतिपादन होने से अध्यात्म रहस्यमय विद्या है । सर्व कर्मों के अभाव से आत्मा के सर्वगुण पूर्ण शुद्ध होकर परिणमित होते हैं जिसके फल में आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि का अक्षय भोक्ता बन जाता है।

साहित्य में आत्मा - परमात्मा में अभेद की अनुभूति और अव्यक्त के प्रति आत्म निवेदन को रहस्यवाद कहा गया है। रहस्य शब्द गूढ़ तत्त्व या मर्म का वाचक है। अध्यात्म में आत्मा-परमात्मा और दोनों के सम्बन्ध की यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रकाशन होता है। आत्मा - परमात्मा के स्वरूप व उनके सम्बन्ध का प्रकाशन गूढ़ तत्त्व है, गुप्त रहस्य है, जो योगियों को ही प्रगट होता है। विषयों में आसक्त जीव इस रहस्य को कभी भी नहीं समझ पाते।

साधारण जन तो आत्मा - परमात्मा (परम शुद्ध निज आत्मा) के इस गूढ़ संबन्ध को नहीं जानते, किन्तु धर्म व दर्शन के अध्येता भी जो स्याद्वाद कथन पद्धति से अनभिज्ञ हैं, उन्हें भी इस विद्या का ग्रहण नहीं हो पाता। अध्यात्म वह विद्या है जिसका साधक, आत्मा-परमात्मा में अभेद की अनुभूति में प्रवीण होता है इसलिए भी यह रहस्यमय है।

दुर्बोध्य तत्त्व को भी रहस्यमय कहा जाता है। अध्यात्मविद्या अपनी कुछ विशेषताओं के कारण दुर्बोध्य है। उनमें से मुख्य निम्नप्रकार हैं:-

(१) विषय की अमूर्तता :

अध्यात्म शास्त्र का मूल प्रतिपाद्य आत्मा है जो इन्द्रिय ज्ञान गम्य नहीं है। अन्य ज्ञान की शाखायें इन्द्रिय ज्ञान द्वारा जानने व अनुभव में आने वाले विषयों से सम्बन्धित हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से आत्मा को जानना दुर्बोध्य है। आत्मज्ञान में शब्द निमित्तरूप से एक सीमा तक सहायक होते हैं, परन्तु अन्त में उनका अवलम्बन छोड़े बिना आत्मज्ञान नहीं होता।

(२) हेय-उपादेय :-

सारा जगत ग्रहण करने योग्य (उपादेय) और छोड़ने योग्य (हेय) का विचार पौद्गलिक वस्तुओं व उनके भावों अथवा उनके आश्रय से होने वाले कार्यों में करता है। अध्यात्म विद्या में सर्व परपदार्थ केवल

जानने योग्य हैं। हेय-उपादेय का विचार जीव के अपने भावों तक सीमित है। अतः निज शुद्ध आत्मा के आश्रय से होने वाली शुद्ध परिणति व शुद्धोपयोग उपादेय एवं समस्त रागादि (मोह-राग-द्वेष) भाव और परद्रव्यों की ओर उन्मुख ज्ञान प्रवृत्ति हेयरूप से निर्धारित किये जाते हैं। भावों में हेय-उपादेय-ज्ञेय की पद्धति से अपरिचित होने से सामान्यजनों के लिए अध्यात्म दुर्बोध्य है।

(३) प्रयोजनभूत क्रिया :-

ज्ञान की प्रत्येक शाखा की एक प्रयोजनभूत क्रिया होती है। लौकिक विज्ञान की प्रयोजनभूत क्रिया किन्हीं मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार गाथा-४ में काम-भोग-बंध की कथा कहा है। यह कथा संसारी जीवों ने अनन्त बार सुनी है, परिचय किया है और अनुभव भी किया है। इसलिए सुलभ है। अध्यात्म विज्ञान की प्रयोजनभूत क्रिया आत्मा व परमात्मा (पूर्णशुद्ध आत्मा) में अभेदत्व का अनुभव करते हुए परमात्मपद की प्राप्ति है। स्व से एकत्व एवं पर से विभक्त ऐसे शुद्ध आत्मा के ज्ञान व श्रद्धान द्वारा निज शुद्ध आत्मा के ध्यान से मोह-राग-द्वेष को समूल निःशेष कर पूर्ण शुद्ध अवस्था (शुद्धात्मा या परमात्म पद) की प्राप्ति अध्यात्म की प्रयोजनभूत क्रिया है। लौकिकजन इस विद्या के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

अतीन्द्रिय सुख व उसका साधनभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय होने से उसकी पूर्णतः उपलब्धि अध्यात्म की प्रयोजनभूत क्रिया है।

(४) सुख की अवधारणा :

लोक में मानवीय इच्छाओं की पूर्ति से मिलने वाली तुष्टि या तृप्ति को सुख माना जाता है - सर्व जन सुख की इस धारणा से परिचित हैं। अध्यात्म में सुख का लक्षण निराकुलता व दुख का लक्षण आकुलता निर्धारित किया गया है। जिस वेदन को जगत जन सुख

मानते हैं वह अनित्य-कभी कभी होने वाला, क्रमशः होने वाला, अपने विरोधी भाव दुःख सहित होने वाला, हानि-वृद्धि रूप और पराधीन है। अध्यात्म का लक्ष्यभूत सुख आत्माधीन, नित्य, युगपत प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष (दुख रूप विरोधी भाव रहित) और हानि-वृद्धि रहित है। आध्यात्मिक सुख की धारणा – इच्छाओं की उत्पत्ति न होने से एवं इच्छाओं के घटने से सम्बन्धित है। इच्छाओं का पूर्ण अभाव पूर्ण सुख है - जिससे जगतजन अपरिचित हैं। उन्हें इस सुख का अनुभव भी नहीं होता। निराकुलता लक्षण सुख की प्राप्ति की विधि भी केवल अमूर्त निज शुद्धात्मा में क्रीड़ा करने रूप होने से अत्यन्त गूढ़ व रहस्यमय है।

(५) उपकरण

अन्य सभी विज्ञान खोज के लिए बुद्धि के साथ भौतिक उपकरणों का भी प्रयोग करते हैं। अध्यात्म में खोज का विषय निज आत्मा की शक्तियाँ और सामर्थ्य एवं उन शक्तियों का उपयोग करते हुये अपने ज्ञान व आनन्द की पूर्ण व शुद्ध अवस्था की प्राप्ति है। इस खोज का उपकरण जीव की ज्ञान शक्ति, बुद्धि या प्रज्ञा है। यह उपकरण अमूर्त है, सूक्ष्म है।

संसारी जीव शुभ-अशुभ भावरूप भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीर व इन्द्रियाँ आदि के साथ बंधरूप अवस्था में हैं। बंधरूप अवस्था में जीव व पुद्गल की परिणति परस्पर एक दूसरे के सापेक्ष होती है। प्रज्ञा द्वारा ही जीव और बंध (द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म) का नियत – निश्चित स्व लक्षणों से द्विधाकरण किया जाता है। द्विधाकरण करके प्रज्ञा रूपी साधन द्वारा ही शुद्ध आत्मा का ग्रहण किया जाता है और बंध को छोड़ा जाता है। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि में, जो अध्यात्म का ध्येय है, प्रज्ञारूपी बुद्धि के अलावा अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती।

(६) कथन पद्धति

अध्यात्म विज्ञान का प्रतिपाद्य 'आत्मा' अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। आत्म वस्तु अनेकान्त (सामान्य विशेषात्मक अनेक धर्म स्वरूप) स्वभाव वाली है। एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। इस वस्तु स्वभाव का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। स्याद्वाद कथन पद्धति निश्चय-व्यवहार नयात्मक है। निश्चय-व्यवहार नय में 'मुख्य सो निश्चय, गौण सो व्यवहार' का नियम अपनाते हैं। प्रयोजन बदलने के साथ निश्चय-व्यवहार का विषय बदल जाता है। इसलिए अध्यात्म के सर्व कथन कोई विशेष अपेक्षा लिये हुए होते हैं। श्रोता को अपनी बुद्धि से किसी भी कथन के सम्बंध में सही नय अथवा अपेक्षा को समझना पड़ता है। कथन की अपेक्षा अर्थात् वक्ता का अभिप्राय जैसा है वैसा सही सही ग्रहण हो जाना विशेष बुद्धि की अपेक्षा रखता है। अध्यात्म विद्या को समझने के लिए वस्तु स्वभाव की अनेकान्तात्मकता और स्याद्वाद कथन पद्धति का ज्ञान आवश्यक है।

इस प्रकार अध्यात्म-विज्ञान अन्य विज्ञानों से भिन्न प्रकार का विज्ञान है। इसका प्रतिपाद्य, प्रयोजनभूत क्रिया, हेय-उपादेय निर्णय पद्धति, सुख की अवधारणा, खोज के उपकरण, कथन पद्धति अति विशिष्ट होने से गूढ़ और दुर्बोध्य है। इसलिए पं. आशाधरजी ने इस अध्यात्म शास्त्र का नाम 'अध्यात्म रहस्य' रखा है।

यह ग्रन्थ आत्मा व परमात्मा सम्बंधी अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ निज शुद्ध आत्मा - केवल एक को अपने अन्तर्वर्ती उपयोग का विषय बनाने की विद्या को प्रकाशित करता हुआ निज शुद्ध आत्मा में उपयोग की लीनतारूप अनुष्ठान के लिए पुरुषार्थवन्त होने की प्रेरणा देता है – मार्ग प्रकाशित करता है।

– डॉ. मानमल जैन, कोटा

॥शुद्धात्मने नमः॥

पण्डितप्रवर आशाधरजी विरचित

अध्यात्म रहस्य

मंगलाचरण

भव्येभ्यो भजमानेभ्यो, यो ददाति निजं पदम् ।
तस्मै श्रीवीरनाथाय, नमः श्रीगौतमाय च ॥१॥

भक्ति-लीन भव्यों को करते जो निज-पद का अनुपम दान।
उन श्री वीरनाथ एवं गौतम गुरुवर को करूँ प्रणाम॥१॥

अन्वयार्थ :- [**यः**] जो [**भजमानेभ्यः भव्येभ्यः**] भजमान (भजते हुए) भव्यों को [**निजं पदं ददाति**] निजपद प्रदान करते हैं [**तस्मै श्रीवीरनाथाय श्रीगौतमाय च**] उन श्री वीरनाथ और श्री गौतमस्वामी को [**नमः**] नमस्कार हो।

व्याख्या :- यहाँ भव्यों का भजमान (भक्ति में अनुरक्त सुपात्र) विशेषण और उन्हें निजपद प्रदान करने की बात – ये दोनों ध्यान में लेने योग्य हैं। इनमें भक्तियोग का रहस्य सन्निहित है। एक ही पद्य में श्री वीर-भगवान के साथ गौतमस्वामी को रखना और दोनों को एक साथ नमस्कार करना भी रहस्यपूर्ण है।

अध्यात्म वह विद्या है जिसकी आराधना व साधना द्वारा भव्य आत्मा परमात्मपद को प्राप्त होता है। परमात्मपद को प्राप्त करने का सुपात्र वह भव्यजीव होता है जो सदा सच्चे हृदय से भक्ति में मग्न अर्थात् अनुरक्त रहता है। अभक्त प्राणी भगवंत पद प्राप्त करने के योग्य नहीं होता। यहाँ भव्यों के लिए भक्तिवंत विशेषण प्रयुक्त किया गया है। जिनकी भक्ति आराधना से भव्यजीवों को भगवंत पद की प्राप्ति होती है ऐसे श्री वीरस्वामी अर्थात् अक्षय ज्ञानलक्ष्मी तथा भारती

विभूतिरूप 'श्री' सम्पन्न भगवान महावीर तथा श्री गौतमस्वामी को मंगलाचरण में नमस्कार किया गया है। यहाँ एक पद्य में वीर-भगवान के साथ गौतमस्वामी को रखना और दोनों को एक साथ नमस्कार करना भी रहस्य से खाली नहीं है, यह भगवान द्वारा अपने भक्त को निज समान बना लेने का सुन्दर एवं स्पष्ट उदाहरण है। इन्द्रभूति गौतम श्री वीर भगवान के प्रमुख शिष्य और प्रधान गणधर होने के साथ ही अनन्य भक्त थे और उसी असाधारण भक्तिवश तदनुरूप आचरण करके उन्हीं के समान मुक्तिपद को प्राप्त हुए हैं, आराधक से आराध्य और सेवक से सेव्य बनकर नमस्कार के पात्र बने हैं। इसी कारण वीरस्वामी के साथ उन्हें भी नमस्कार किया गया है।

प्रस्तुत पद्य में 'नमः' शब्द एक होते हुए भी देहरी-दीप न्याय से दोनों के लिए समान रूप में प्रयुक्त हुआ है अथवा 'च' शब्द के साथ अपनी पुनरावृत्ति की सूचना को लिये हुए है।

यहाँ भव्यों को 'भजमान' विशेषण दिया गया है। भजमान विशेषण के द्वारा यह प्रगट किया गया है कि निजपद प्रदान करने का कार्य उन्हीं भव्यजीवों के लिए है, जो सदा सच्चे हृदय से भक्ति में अनुरक्त रहते हैं और इसीलिए उस पद को प्राप्त करने के सुपात्र होते हैं। वादिराज सूरि 'एकीभाव स्तोत्र' में लिखते हैं –

''शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधि सुखावंचिका कुंचिकेयम्।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो,
मुक्ति-द्वारं परिदृढ़-महामोह-मुद्रा-कपाटम् ।।१३।।

अर्थ - शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र के होते हुए भी जिस मुमुक्षु की मुक्ति प्राप्त आत्माओं के प्रति उच्च कोटि की भक्ति नहीं है उसके लिए मुक्ति के द्वार पर सुदृढ़ महामोह की मुद्रा (मुहर-सील) को लिए

हुए कपाट लगे हैं, जिसे वह खोलने में समर्थ नहीं हो सकता। उच्च कोटि की सच्ची सविवेक भक्ति ही कभी असफल नहीं होने वाली कुंजी (अवंचिका कुंचिका) है, जो मुक्ति के द्वार को खोलने में सदा समर्थ होती है।''

अतः उस पद (वीरस्वामी का पद-अरिहंत पद) की प्राप्ति के लिए भव्यजीव का भजमान होना आवश्यक है। 'भजमान' विशेषण उस जीव की निकट भव्यता का भी द्योतक है।

निजपद प्रदान (निजपदम् ददाति) की बात में दो बातें विचारणीय हैं – (१) निजपद क्या है? और (२) निजपद-दान क्या है ?

निजपद शुद्ध, स्वाधीन, आत्मीय ज्ञानानन्दमय पद को कहते हैं जिसका दूसरा नाम मुक्तिपद है। मुक्तिपद के अवस्था भेद से दो प्रकार हैं – एक जीवन मुक्तिपद, दूसरा विदेह मुक्तिपद। देह में रहते हुए जो उस पद का उपभोग कर सकते हैं वह पहला प्रकार अर्थात् अरिहंत पद है। देह से सर्वथा सदा के लिए छूटने पर जिसका उपभोग बनता है उसे दूसरा मुक्तिपद अर्थात् सिद्ध पद कहते हैं। मुमुक्षु के लिए इन पदों के अतिरिक्त अन्य सब पद अपद हैं।

निजपद को प्रदान करने की विशेषता भी श्री वीरनाथ (अरिहंत-सिद्ध) के लिये ही बनती है और निजपद प्रदान करने की विधि अध्यात्म का रहस्य भी है। लोक में जिस प्रकार एक मनुष्य अपना पद दूसरे को देकर स्वयं उस पद से मुक्त हो जाता है उस प्रकार से मुक्ति-पद प्रदान नहीं किया जा सकता। वास्तव में मुक्ति-पद आत्मा का निजरूप अथवा निज-स्वरूप है।

निज-स्वरूप का दान नहीं बन सकता है। कोई भी द्रव्य अपने निज स्वरूप का किसी दूसरे को दान नहीं कर सकता, क्योंकि गुणी से गुण पृथक् करना अशक्य है। वस्तुतः दान सदा परवस्तु का होता

है जिसे भूल अथवा अहंकारवश अपना मान लिया जाता है। मुक्त-आत्माओं में मोह का सर्वथा अभाव होने से देने-दिलाने की कोई बात वस्तुतः बन ही नहीं सकती है। तब निजपद प्रदान करने की बात में क्या रहस्य है ?

सभी भव्यजीव द्रव्य-दृष्टि से परस्पर समान हैं। सबमें मुक्ति-पद प्राप्ति की योग्यता है। परन्तु अनादिकाल से कर्ममल से मलिन एवं आच्छादित होने के कारण वह योग्यता पर्याय में व्यक्त नहीं है। मुक्त होने की योग्यता सभी भव्यजीवों में शक्तिरूप में अनादि से विद्यमान है। मुक्तात्माओं में उस योग्यता (सिद्धत्व) का पूर्ण विकास देखकर भव्य प्राणियों को अपनी भूली हुई आत्म-निधि की सुधि मिलती है।

प्रवचनसार गाथा-८० में आचार्य कुन्दकुन्द यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं –

''जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

गाथार्थ :- जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।''

समाधितन्त्र ग्रन्थ के श्लोक-९७ में आचार्य पूज्यपाद यही भाव इन शब्दों में प्रगट करते हैं –

''भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥

अर्थ :- जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती दीपक की उपासना (आराधना) करके – उसका सामीप्य प्राप्त करके दीपक रूप हो जाती है, वैसे ही यह आत्मा अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्धरूप

परमात्मा का ध्यान करके उन ही जैसा परमात्मा हो जाता है।''

कोई विचारशील भव्यजीव मुक्त-आत्माओं के स्वरूप का द्रव्य से, गुण से, पर्याय से विचार करता है तो उसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप ज्ञान में भासित होता है। जब अपनी भूली हुई निधि का ज्ञान होता है अर्थात् अपने परमपारिणामिकभावस्वरूप कारण- परमात्मा और अरिहन्त-सिद्ध स्वरूप कार्यपरमात्मा का ज्ञान होता है तो वह अपनी निधि को प्राप्त करने के लिए व्यवहार नय से मुक्तात्माओं का भजन, आराधन, सेवन, पदानुसरण करता है और निश्चय से निज शुद्धात्मा की आराधना-भावना करता है – ऐसा करने से पूर्वसंचित कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा (प्रतिसमय असंख्यात गुणी) होती है, नवीन कर्मों का बंध रुक जाता है, उस पुरुषार्थ से मुक्तात्माओं जैसी योग्यता अपने में विकसित करके उनके समान पद प्राप्त करने में समर्थ होता है।

श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव 'योगसार' के श्लोक-१९ में इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

''जिण सुमिरहु जिण चिंतबहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण॥

अर्थ :- शुद्ध भाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो, जिनेन्द्र का चिंतवन करो, जिनेन्द्र का ध्यान करो – ऐसा ध्यान करने से एक क्षण में परमपद प्राप्त हो जाता है।''

इसलिये 'भजमान' भव्यों को अपना पद अर्थात् अपने समान पद प्राप्त करने में उचित निमित्त कारण (उपादान कारण तो जीव की अपनी स्वयं की योग्यता है) होने से वीरनाथ (महावीर) को व्यवहार नय से निजपद को प्रदान करने वाला कहा गया है। यह कथन अलंकार की भाषा में है, सिद्धान्त कथन नहीं है। वस्तुतः मुमुक्षु के अन्तरंग

में अरिहन्त-सिद्ध की सच्ची सविवेक भक्ति होती है। वह भक्ति उसे भगवान बनाने में समर्थ होती है – इसका अभिप्राय यह है कि उनके स्वरूप का ध्यान, भावना, आराधना उसे सदा तदनुरूप आचरण को प्रेरित करती है। गौतमस्वामी ने भगवान महावीर के समान ही आचरण करके वीर भगवान के प्रति अपनी भक्ति को चरितार्थ किया था और इसी से वे उनके पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए।

समयसार गाथा-३१ से ३३ में निश्चय-भक्ति का स्वरूप बताते हुए अपनी परिणति में जितेन्द्रियपना, जितमोहपना व क्षीणमोहपना प्रगट होना ही निश्चय स्तुति कहा गया है –

''जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।
जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।
जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।

गाथार्थ :- जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चय नय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में **'जितेन्द्रिय'** कहते हैं।

जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य-भावों से अधिक जानता है उस मुनि को परमार्थ के जानने वाले **'जितमोह'** कहते हैं।

जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो तब निश्चय को जानने वाले निश्चय से उस साधु को **'क्षीणमोह'** नाम से कहते हैं।''

निश्चय-भक्तिरूप शुद्ध आचरण के बिना शब्दरूप भक्ति यंत्र-संचालित भावशून्य क्रिया के समान है। वह वीर भगवान द्वारा निजपद प्रदान करने का निमित्त कारण भी नहीं है।

मंगलाचरण में वीर भगवान और गौतमस्वामी दोनों के साथ 'श्री' विशेषण समान रूप से प्रयुक्त हुआ है जो उनकी ज्ञानलक्ष्मी और भारती-विभूति का द्योतक है। अभव्यों को सिद्ध पद कभी भी प्राप्त नहीं होता, इसलिए यहाँ पर भव्यों को लक्ष्य करके ही निजपद प्रदान करने की बात कही गयी है। **'भव्यों' को कहकर निमित्त कारण के साथ उपादान कारण की मुख्यता व अनिवार्यता को स्थापित किया गया है।**

प्रवचनसार गाथा-६२ में आचार्य कुन्दकुन्द ने भव्य का लक्षण इसप्रकार प्रतिपादित किया है –

''णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति॥

गाथार्थ :- जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं उनका सुख, सुखों में उत्कृष्ट है – ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते, वे अभव्य हैं; जो उसकी श्रद्धा करते हैं, वे भव्य हैं।''

'केवली भगवान को ही पारमार्थिक सुख है' इस सिद्धान्त का स्वीकार-आदर-श्रद्धा भव्यपने का लक्षण है, जो उपरोक्त वचन सुनकर अन्तरंग से उसकी श्रद्धा करते हैं, वे जीव आसन्न भव्य हैं, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूरभव्य हैं।

इसप्रकार जो यह मानते हैं कि केवली भगवान को ही पारमार्थिक सुख है ऐसे भक्त ही केवली की भक्ति के निमित्त से निजपद प्राप्त करने की पात्रता रखते हैं।

मंगलाचरण

नमः सद्गुरवे तस्मै यद्वाग्दीप-स्फुटी-कृतात् ।
मार्गादारूढयोगः स्यान्मोक्षलक्ष्मीकटाक्षभाक् ॥२॥

वन्दन उन गुरुवर को जिनके वचनों से प्रगटे पथ पर।
चलकर योगीजन होते हैं शिव-कामिनि-कटाक्ष के पात्र ॥२॥

अन्वयार्थ :- [**तस्मै सद्गुरवे नमः**] उस सद्गुरु के लिए नमस्कार हो [**यद्-वाक्-दीप-स्फुटीकृतात् मार्गात्**] जिसके वाणीरूपी दीपक के द्वारा प्रकट किए गये मार्ग से [**आरूढ-योगः**] योग पर आरूढ (योगीजन) [**मोक्ष-लक्ष्मी-कटाक्ष-भाक् स्यात्**] मोक्ष रूपी लक्ष्मी के कटाक्ष का भागी होता है।

व्याख्या :- यहाँ सद्गुरु को नमस्कार करते हुए मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति में योगाभ्यास की प्रधानता को घोषित किया गया है। साथ ही यह भी कहा है कि योग-मार्ग सद्गुरु के वचन-प्रकाश से स्पष्ट दिखाई पड़ता है और तब ही उसको जानकर आचरने में आता है।

''जो अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, आत्मा से आत्मा को जोड़ता है वह इसप्रकार के शील – स्वभाव वाला व्यक्ति योगी कहलाता है।''

(तत्त्वसार : देवसेनाचार्य, कमलकीर्ति कृत टीका, श्लोक-११)

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति में सद्गुरु वे हैं जिनकी वाणी के प्रसाद से योगी को उस दृष्टि की प्राप्ति होती है, जिससे शुद्धात्मा का साक्षात्कार होता है और वह सद्दृष्टि ही मोक्षलक्ष्मी को अपनी ओर आकर्षित करती है।

निश्चय और व्यवहार नय की भेद-दृष्टि से ऐसे सद्गुरु के दो प्रकार हैं। व्यवहार नय से गुरु वे लोक प्रसिद्ध गुरु हैं जिनकी वाणी

(सत् शास्त्र) पढ़कर अथवा साक्षात् वचन सुनकर सच्ची दृष्टि प्राप्त होती है। निश्चय नय से गुरु अपना अन्तर-आत्मा है। अपने आत्मा में ही आत्म-बुद्धि के प्रकर्ष के सद्भाव से आत्मा ही आत्मा में आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश स्वयं को मोक्ष प्राप्त कराता है, इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है।

अब योग के पारगामी का स्वरूप बताते हैं :-

शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात् ।
यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः॥३॥

जिसके मति-श्रुत-ज्ञाति-दृष्टि सद्गुरु प्रसाद से ही निज में।
क्रमशः थिर होते जाते वे योगी योग पार-गत हैं॥३॥

अन्वयार्थ :- [**सः योगी योगपारगः**] वह योगी योग का पारगामी (होता है), [**यस्य**] जिसके [**श्रुति-मति-ध्याति–दृष्टयः**] श्रुति, मति, ध्याति व दृष्टि [**सद्गुरुतः**] सद्गुरु (के प्रसाद) से [**क्रमात् स्वात्मनि सिद्धाः**] क्रमशः स्वात्मा में सिद्ध हो जाती हैं।

व्याख्या :- योग के अभ्यासी योगी को योग का पारगामी (पूर्ण योगी) होने के लिए सद्गुरु के प्रसाद से चार शक्तियाँ क्रमशः श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि शुद्ध स्वात्मा में सिद्ध होना अर्थात् प्रगट होना आवश्यक हैं।

इन चारों का स्वरूप ग्रंथकार श्लोक-६ से ९ में क्रमशः स्पष्ट करेंगे। स्वात्मा का स्वरूप श्लोक-४ में व शुद्ध स्वात्मा का स्वरूप श्लोक-५ में बताया गया है। व्यवहार व निश्चय सद्गुरु के स्वरूप का उल्लेख श्लोक-१३ में किया गया है।

शुद्ध स्वात्मा से अभिप्राय यहाँ पर, आत्मा की उस अवस्था से है जब वह राग-द्वेष और मोह में प्रवृत्त न होकर दर्शन, ज्ञान और

साम्यभावरूप में परिणत होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे ही समयसार गाथा-२ में 'स्वसमय' कहा है। उस शुद्धावस्था अथवा शुद्धोपयोगरूप अवस्था की उपलब्धि का अभ्यास बढ़ाते हुए ही योगी को श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि की क्रमशः सिद्धि होती है। स्वात्मा की अशुद्ध परिणति में उनकी सिद्धि नहीं बन सकती, इसी बात को द्योतन करने के लिए 'स्वात्मनि' पद का विशेषण 'शुद्ध' दिया गया है, जो विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

यहाँ उपयोग को शुद्ध स्वात्मा में एकाग्र करने के अभ्यास को योग और इस योग के अभ्यासी को योगी कहा गया है। योगी का लक्षण यहाँ पर साधक को श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि की सिद्धि होना बताया गया है। जिसे इन शक्तियों की सिद्धि हो जाती है वह अभ्यास द्वारा योग का पारगामी अर्थात् पूर्ण योगी (अरिहंत) बन सकता है। इसी प्रकार यहाँ सद्गुरु शब्द दीक्षागुरु या विद्यागुरु का द्योतक नहीं है। परन्तु सद्गुरु वे हैं जिनसे पहले श्रुत की प्राप्ति और बाद में आत्मा के साक्षात्कार (आत्मानुभव) की दृष्टि प्राप्त होती है। व्यवहार और निश्चय के भेद से उनके दो प्रकार हैं, जिनका विशेष स्वरूप आगे बताया जाएगा। योग का पारगामी होने में उपादानकारण तो योगी (आत्मा) की पर्याय में श्रुति-मति-ध्याति और दृष्टिरूप शक्तियों की प्राप्ति है और निमित्तकारण सद्गुरु हैं।

योग के पर्यायवाची नाम तत्त्वसार में (देवसेनाचार्य) इसप्रकार बताये गये हैं :–

''साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थ वाचका।।

श्लोकार्थ : साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोधन और शुद्धोपयोग – ये सब शब्द एकार्थ वाचक हैं।''

योगी को जिस शुद्ध स्वात्मा को सिद्ध करना है, उसका स्वरूप बताने से पूर्व उस **स्वात्मा का स्वरूप** कहते हैं :-

स स्वात्मेत्युच्यते शश्वद्भाति हृत्पंकजोदरे ।
योऽहमित्यंजसा शब्दात्पशूनां स्वविदा विदाम् ॥४॥

जो ज्ञानी-अज्ञानी जन के हृदय कमल में नित्य बसे।
मैं आतम हूँ इन वचनों से वाच्य निजातम कहलाये॥४॥

अन्वयार्थ :- [**यः पशूनाम् स्व-विदा-विदां** (च)] जो मूर्खों के व ज्ञानीजनों के [**हृत्-पङ्कजोदरे**] हृदय रूपी कमल के मध्य में [**शश्वत् भाति**] नित्य प्रकाशित है (तथा) [**'अहम् आत्मा' इति शब्दात्**] 'मैं आत्मा हूं' इस शब्द से [**अञ्जसा उच्यते**] स्पष्ट रूप से कहा जाता है [**सः 'स्वात्मा' इति उच्यते**] वह स्वात्मा कहलाता है।

व्याख्या :- अपना आत्मा, निजात्मा और स्वात्मा ये सब एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं। आत्मा का निजत्व वाचक विशेषण 'स्व' है, जो परजीवों के आत्माओं से अपनी आत्मा के पृथक् अस्तित्व का सूचक है। द्रव्यदृष्टि से अथवा गुणों की अपेक्षा सभी आत्मा परस्पर समान हैं। फिर भी प्रत्येक आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का अस्तित्व स्वतंत्र होने से प्रत्येक आत्मा का अपना व्यक्तित्व है। मोक्षमार्ग की साधना व विकास का क्रम प्रत्येक आत्मा का पृथक् है, इसलिए योग की सिद्धि द्वारा मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति हेतु प्रत्येक आत्मा के व्यक्तित्व को पृथक्-पृथक् ध्यान में लेने की आवश्यकता है।

अपनी आत्मा का पृथक् व्यक्तित्व सभी संज्ञी (समनस्क) जीवों को भासित होता है, चाहे उनके ज्ञान का क्षयोपशम कम हो या ज्यादा। स्वात्मा 'अहं' शब्द के वाच्य रूप में भासमान होता है। प्रत्येक संज्ञी जीव यह अनुभव करता है कि मैं सुखी हूँ, मैं खाता हूँ, मैं पीता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं बैठता हूँ,

मैं सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, वध-बन्धादि दुःखों से पीड़ित हूँ इत्यादि; जो ऐसा जानता या वेदन करता है वह स्वात्मा है। सभी उम्र के जीवों को – ग्वाले जैसे सामान्य बुद्धि के धारक से लेकर विचक्षण पुरुषों को स्वात्मा का प्रतिभास होता है।

अपनी आत्मा की सत्ता का यह प्रतिभास हृदय-कमल के मध्य में, जिसे कर्णिका कहते हैं, वहाँ भासमान रहता है। आचार्य कुमुदचन्द्र ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र छन्द-१४ में यह तथ्य उद्घाटित किया है –

''त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज-कोष-देशे।
पूतस्य निर्मल-रुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भव-पदं ननु कर्णिकायाः॥

शुद्ध स्वरूप अमल अविनाशी, परमातम सम ध्यावहिं तोय।
निजमन कमल-कोष मधि ढूंढहि, सदा साधु तजि मिथ्या मोह॥
अति पवित्र निर्मल सुकांति युत, कमल-कर्णिका बिन नहिं और।
निपजत कमल बीज उसमें ही, सब जग जानहिं और न ठौर॥

अर्थ :- कमल की कर्णिका में जिस प्रकार अक्ष (कमल बीज) का वास है, उसी प्रकार हृदय-कमल के मध्य में अक्ष (आत्मा) का वास है। साधुजन मिथ्यात्व और मोह को तजकर निजमनरूपी कमल-कोष के मध्य में निजात्मा को ढूंढते हैं, जिसे आत्मज्ञानी जन स्व-संवेदन अथवा स्वानुभूति से लक्षित किया करते हैं। शुद्धात्मा का अनुसंधान भी योगीजनों द्वारा इसी हृदय-कमल की कर्णिका के मध्य में किया जाता है।''

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका (समयसार गाथा १७-१८) में कहते हैं :- **''यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि...** – ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा

आबाल-गोपाल सबके सदाकाल स्वयं ही अनुभव में आने पर भी अनादिबन्ध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़-अज्ञानीजनों को 'जो यह अनुभूति है वह ही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। स्वात्मज्ञान के अभाव में अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता। निज आत्मा के ज्ञान व श्रद्धान के उदित हुए बिना निःशंक होकर स्वात्मा में स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण भी उदित नहीं होता। स्वात्मा के ज्ञान, श्रद्धान व उसमें निःशंक होकर लीनता की सामर्थ्य उदित होने पर ही आत्मा को साधा जा सकता है। साध्य आत्मा की सिद्धि इसी प्रकार होती है।''

शुद्ध स्वात्मा का स्वरूप

यो न मुह्यति नो रज्यत्यपि न द्वेष्टि कस्यचित् ।
स्वात्मा दृग्बोधसाम्यात्मा स शुद्ध इति बुध्यताम् ॥५॥

जो न किसी से मोह करे अरु राग-द्वेष भी नहीं करे।
दर्श-ज्ञान अरु साम्यरूप जो परिणत वह आत्मा शुद्ध है॥५॥

अन्वयार्थ :- [**यः कस्यचित् अपि न मुह्यति, न रज्जते, न द्वेष्टि**] जो किसी के भी प्रति न मोह करता है, न राग करता है, न द्वेष करता है [**सः दृग्-बोध-साम्यात्मा**] वह दर्शन-ज्ञान व साम्य-भाव रूप परिणत [**स्वात्मा**] स्वात्मा ['शुद्धः' **इति बुद्ध्यताम्**] 'शुद्ध है'– ऐसा जानो।

व्याख्या :- स्वात्मा जिस समय मोह-राग-द्वेष से छूटकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-साम्यरूप परिणत होता है, उस समय उसे शुद्ध स्वात्मा समझना चाहिये। इस तरह परिणति की अपेक्षा स्वात्मा शुद्ध कहा जाता है।

यहाँ 'साम्य' शब्द सम्यक्चारित्र का वाचक है। श्री कुन्दकुन्द

आचार्य ने प्रवचनसार की गाथा-७ में साम्यभाव को ही चारित्र कहा है :-

''चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

अर्थ :- चारित्र वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है, – ऐसा शास्त्रों में कहा है। मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव है।''

इसप्रकार मोह-क्षोभ रहित साम्यभावरूप आत्मपरिणाम को ही सम्यक्चारित्र कहा गया है। राग-द्वेष-मोह ही आत्मा की तुला को सम से विषम बनाये रखते हैं, इसीलिए राग-द्वेष की निवृत्ति चारित्र का मुख्य लक्षण है और पूर्ण निवृत्ति ही चारित्र का लक्ष्य है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक-४७ में कहा है:-

''मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
राग-द्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

श्लोकार्थ :- दर्शनमोहरूपी अंधकार के नाश होने पर सम्यक्दर्शन की प्राप्ति से प्रगट हो गया है सम्यक्ज्ञान जिसको, ऐसा जो साधु पुरुष – सत्पुरुष है वह राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करता है।''

आत्मा परिणामस्वभावी है। जब वह शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है तब स्वयं ही शुभ या अशुभ होता है। जब आत्मा शुद्ध भावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है। इसप्रकार स्वाभाविक निर्मल रंग में परिणमित स्फटिकमणि के समान आत्मा भी जब निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग में परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही रत्नत्रय कहलाते हैं। इसी ग्रंथ के श्लोक १४ में **'रत्नत्रयात्म-स्वात्मैव मोक्षमार्गः'** इस वाक्य द्वारा रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है – ऐसा मोक्षमार्ग का स्वरूप बताया है। अर्थात् स्व आत्मा की रत्नत्रय परिणति ही मोक्षमार्ग है और यह ही शुद्ध स्वात्मा का स्वरूप है।

''जो ज्ञानी निर्मल रागादि-दोषरहित रत्नत्रय को आत्मा रूप कहते हैं (स्वात्मपरिणति मानते हैं) वे शिवपद के आराधक हैं और वे ही मोक्षपद के आराधक होते हुए आत्मा को ध्याते हैं।''

– परमात्मप्रकाश, श्लोक-१५५

योग का पारगामी होने के लिए जिन चार शक्तियों (श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टि) की सिद्धि आवश्यक है, अब उनका स्वरूप क्रमशः बताते हैं। प्रथम श्रुति का लक्षण कहते हैं –

श्रुति का लक्षण

आप्तोपज्ञमदृष्टेष्ट-विरोधाद्धर्म्य-शुक्लयोः ।
ध्यानयोः शास्ति या ध्येयं सा गुरूक्तिरिति श्रुतिः॥६॥

आप्त-ज्ञात-उपदिष्ट ध्येय को दृष्टा-इष्ट अविरोध सहित।
धर्म-शुक्ल में आयोजित जो करे वही गुरुवाणी श्रुति॥६॥

अन्वयार्थ :- [**या गुरूक्तिः**] जो गुरु की उक्ति या गुरुवाणी [**आप्तोपज्ञं**] आप्त द्वारा ज्ञात एवं उपदिष्ट [**ध्येयं**] ध्येय को (ध्यान के विषयभूत शुद्धात्मा को) [**धर्म-शुक्ल-ध्यानयोः**] धर्मध्यान व शुक्लध्यान में [**अदृष्टेष्ट-विरोधाद्**] दृष्ट व इष्ट के विरोध से रहित अर्थात् प्रत्यक्ष व आगम आदि प्रमाणों से अविरोध रूप से [**शास्ति**] उपदिष्ट करती है (आयोजित व व्यवस्थित करती है) [**सा श्रुतिः**] वह श्रुति है।

व्याख्या :- यहाँ ऐसी गुरूक्ति (गुरुवाणी) को श्रुति कहा गया

है, जो आप्त के द्वारा उपदिष्ट ध्येय को धर्मध्यान और शुक्लध्यान में इस तरह से आयोजित करने की व्यवस्था करती हो, जिससे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ कोई विरोध घटित न होता हो। दूसरे शब्दों में कहें तो उस विशिष्ट गुरुवाणी को, जो स्वात्मा को धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ओर लगाकर उसके ध्येय को प्राप्त कराने की निर्दोष शासना (देशना, शिक्षा) हो उसे श्रुति कहते हैं।

यहाँ ध्येय का आप्तोपज्ञ विशेषण इस बात को सूचित करता है कि ध्येय आप्त के द्वारा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के उपयुक्त विषय के रूप में निर्दिष्ट हुआ है। यह विषय आत्मा का शुद्ध स्वरूप है - मोक्ष का रहस्य तथा उसकी साधन सामग्री है।

आप्त का लक्षण आचार्य समन्तभद्र ने अपने ग्रंथ रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक-५ में निम्न शब्दों में व्यक्त किया है –

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

अर्थ :- जो निर्दोष (वीतराग), सर्वज्ञ और आगमेशी (परम हितोपदेशी) हो वह निश्चय से आप्त ही होता है। इन गुणों के बिना आप्तपना नहीं होता। आप्त को ही देव कहते हैं।

आप्त द्वारा उपदिष्ट ध्येय को प्राप्त करने की निर्दोष शासना (देशना) को ही यहाँ श्रुति कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी समयसार गाथा-१४४ की टीका में लिखा है कि **''प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य....** प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके.....'' वर्तमान में आचार्य गुरु परम्परा से हमें आप्त का उपदेश प्राप्त है। वह अनेक शास्त्रों में निबद्ध है। शास्त्र-निबद्ध उपदेश आप्तोपज्ञ है या नहीं? इसकी प्रमुख परीक्षा यह है कि आप्त

के द्वारा उपदिष्ट वस्तु व्यवस्था प्रत्यक्ष और परोक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है। वस्तु व्यवस्था के विरोधरूप उपदेश आप्तोपज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ, वीतरागी व हितोपदेशी आप्त के वचन, वास्तव में सदैव ऐसे विरोध रहित ही होते हैं। इसीलिये यहाँ ध्येय की ध्यान में शासना के लिए 'अदृष्टेष्ट-विरोधात्' पद की मुख्यरूप से योजना की गई है।

गुरुवाणी को भी श्रुति कहा जाता है। साक्षात् गुरु के मुख से शिष्य ने अपने कानों से सुनी हो वह तो श्रुति है ही, साथ ही गुरु परम्परा से प्राप्त गुरुवाणी भी श्रुति ही है अथवा परम्परा गुरु के द्वारा किसी शास्त्र में निबद्ध की गई हो और उस शास्त्र को पढ़ने सुनने आदि के द्वारा वह अपने को उपलब्ध हुई हो वह भी श्रुति है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति टीका में (गाथा-५) श्रुतज्ञान की उपलब्धि का विस्तार से वर्णन किया है:-

''निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न परमगुरु-सर्वज्ञदेव और अपरगुरु-गणधरादिक से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त, उनके प्रसाद रूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश उससे निजवैभव (मेरे ज्ञान का वैभव) का जन्म हुआ है। समस्त विपक्ष-अन्यवादियों द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निजवैभव का जन्म हुआ है।''

धर्म और शुक्लध्यान के विषयभूत शुद्धात्मा की ज्ञान में व्यवस्थित गुरूक्ति को श्रुति कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र भी श्रुति का यह लक्षण आत्मख्याति के कलश-२ में निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं –

''अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥

अर्थ :- ज्ञान तथा वचनमयी अनेकान्तमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशमान हो, जो अनन्त धर्मों वाले ऐसे आत्मा के तत्त्व को परद्रव्यों से तथा परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार एक को अर्थात् असाधारण-सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निजस्वरूप (स्व शुद्धात्मा) को वह मूर्ति अवलोकन करती है।''

अर्थात् निज शुद्धात्मा को दर्शाने वाला श्रुतज्ञान ही अनेकान्तमयी मूर्ति (सरस्वती) है, श्रुति है।

श्रुति का विशेष लक्षण धर्मध्यान व शुक्लध्यान में व्यवस्थित करना बताया गया है। ये दोनों ध्यान प्रशस्त-ध्यान हैं, ये ही मोक्ष का मार्ग हैं। इन दोनों ध्यानों का ध्येय शुद्ध स्वात्मा ही है इनके अलावा आर्त्त व रौद्र नामक दो अन्य ध्यान अप्रशस्त हैं; क्योंकि वे आत्म-विकास में बाधक हैं, और इसलिये मुमुक्षुओं द्वारा त्याज्य हैं। आचार्य नागसेन तत्त्वानुशासन ग्रन्थ के श्लोक-३४ में यह तथ्य सुस्पष्ट रूप से बताते हैं –

''आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्म्यं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥

अर्थ :- ध्यान के चार भेद हैं – आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त्त व रौद्र ध्यान दुर्ध्यान होने से सदा वर्जनीय हैं तथा धर्म व शुक्लध्यान – ये दोनों उत्तम ध्यान हैं, उपादेय हैं। इसलिये मुमुक्षुओं को (मोक्ष की इच्छा रखने वालों को) इनका अभ्यास सदा करते रहना चाहिये।''

आचार्य नागसेन तत्त्वानुशासन श्लोक ५१-५२ में धर्मध्यान का स्वरूप निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं –

''सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः॥

अर्थ :- धर्म के ईश्वर गणधरादि देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। इसलिये जो उस रत्नत्रयरूप धर्म से उत्पन्न हो, उसे ही आचार्यगण धर्मध्यान कहते हैं।

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभ विवर्जितः।
स च धर्मोनपेतं यत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि॥

अर्थ :- मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम वह भी धर्म कहलाता है और उस धर्म से उत्पन्न हुआ ध्यान धर्मध्यान कहलाता है।''

इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म, उत्तम क्षमादि रूप दशलक्षण धर्म, तथा मोह-क्षोभ आदि रहित आत्मपरिणामरूप चारित्र अथवा पदार्थ का 'यथात्म्यरूप' स्वभाव धर्म – इसप्रकार जो धर्मरूप उपयोग है उसे धर्मध्यान कहते हैं।

आचार्य नागसेन ने तत्त्वानुशासन श्लोक-२२१ व २२२ में शुक्लध्यान का स्वरूप इसप्रकार बताया है –

''तत्त्वज्ञानमुदासीनम- पूर्वकरणादिषुः।
शुभाशुभमलापायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः॥

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निःप्रकम्पं च॥

अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में तत्त्वज्ञान स्वरूप अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप तथा उदासीनस्वरूप और शुभ-अशुभ मलों के दूर हो जाने से विशुद्ध स्वरूप ऐसे शुक्लध्यान को धारण करना चाहिये।

कषायरूपी रज के क्षय अथवा उपशम होने से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रगट होता है और उसके प्रगट होने से ध्यान शुक्लध्यान

कहलाता है। वह शुक्लध्यान माणिक्य की शिखा के समान सुनिर्मल और निष्प्रकंप होता है।''

धर्मध्यान के स्वामी अविरत सम्यग्दृष्टि, देश संयमी, प्रमत्त और अप्रमत ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव कहे गये हैं, जिसमें प्रथम दो गुणस्थान श्रावकों के और शेष दो मुनियों से सम्बंध रखते हैं।

इस तरह गृहस्थ भी धर्मध्यान के अधिकारी हैं। शुक्लध्यान के अधिकारी केवल मुनि ही होते हैं।

धर्म व शुक्लध्यान में आत्मा को योजित अथवा व्यवस्थित करने वाली वाणी श्रुति है। तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थों में ध्यान **'एकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्'** इस सूत्र द्वारा परिभाषित किया गया है। ध्यान के लक्षण में एक, अग्र, चिन्ता और निरोध ये चार शब्द हैं। यहाँ धर्म व शुक्लध्यान का प्रकरण होने से किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में उपयोग एकाग्र हो, जिससे अन्य पदार्थों के चिन्तवन का निरोध हो वह ध्यान है और उसे ही मन-वचन-काय के द्वारा होने वाले (आत्मा के प्रदेशों में होने वाले) परिस्पंदन का अवरोधक होने से संवर का हेतु व निर्जरा का कारण समझना चाहिये। ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी में संतुष्ट होना और उसी में तृप्त होना परम ध्यान है; क्योंकि शुद्ध स्वात्मा ही अचिंत्यशक्तिवाला देव है और चिन्मात्र चिन्तामणि है इसलिये जिसके सर्व अर्थ सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होने से ज्ञानी अन्य के परिग्रह से क्या करेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं करेगा।

'जानातीत्यग्र आत्मा' अर्थात् जो जाने वह अग्र कहलाता है। तत्त्वानुशासन श्लोक-६२ की इस निरुक्ति से आत्मा का ही नाम अग्र पड़ता है, क्योंकि आत्मा में ही जानने की शक्ति है। निज शुद्धात्मा ही एक अग्र है, क्योंकि सब तत्त्वों में भी निज शुद्धात्मा ही अग्रगण्य और मुख्य माना जाता है। द्रव्यार्थिक नय से 'एक'

विशेषण शुद्ध का वाचक है। अतः निज शुद्धात्मा ही एक अग्र है, जिसमें चिन्ता निरोधरूप उपयोग की एकाग्रता ध्यान है।

यहाँ ध्यान में चिन्ता-निरोध महत्त्वपूर्ण है। धर्म व शुक्लध्यान का प्रकरण होने से चिन्ता-निरोध का तात्पर्य केवल विकल्पों का अभाव न लेकर मोह-क्षोभादि का अभाव अथवा मोह का अभाव लेना चाहिये।

निज शुद्धात्मा में उपयोग की एकाग्रता और रागादि अशुद्ध परिणति का त्याग इन्हें आचार्य अमृतचन्द्र ने क्रमशः ज्ञाननय और क्रियानय की संज्ञा दी है। जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीण (अनेकान्तमय आत्मा को जानने वाला) है तथा सुनिश्चल संयम (रागादि अशुद्ध परिणति के त्याग रूप) में प्रवृत्त है और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निज भावमय भूमिका का आश्रय करने वाला है। ऐसा ध्यान स्वसंवित्तिमय होता है। तत्त्वानुशासन श्लोक-६५ में कहा है :-

''तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनं।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः॥

अर्थ :- उस असहाय रूप एक आत्मा में चिन्ता का निरोध किया जाता है उसको ध्यान कहते हैं। वही अन्य चिन्ताओं का अभाव कहा जाता है तथा उसी को स्वसंवित्तिमय आत्मा कहते हैं।''

ध्यान में एकाग्रता का सबसे अधिक माहात्म्य है। यह एकाग्रता व्यग्रता या अज्ञान अथवा मिथ्यात्व कषायादि से निवृत्तिरूप है। कषाय का एक कण भी एकाग्रता में बाधक ही होता है। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२२४ में ज्ञानमात्र आत्मा में उपयोग एकाग्र करने की महिमा बताते हुए कहते हैं :-

''ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरूणद्धि बंधः।।

अर्थ :- निरन्तर ज्ञान[१] की संचेतना से ही ज्ञान (आत्मा) अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से बंध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।''

इसप्रकार स्वात्मा को धर्मध्यान व शुक्लध्यान में योजित करने वाली आप्त द्वारा ज्ञात व उपदिष्ट गुरुवाणी श्रुति है।

अध्यात्मानुसार मति का स्वरूप निरूपण

श्रुत्या निरूपितः सम्यक् शुद्धः स्वात्मांजसा यया।
युक्त्या व्यवस्थाप्यतेऽसौ मतिरत्रानुमन्यताम् ।।७।।

श्रुति द्वारा सम्यक् प्रतिपादित शुद्धात्मा को जो युक्ति।
स्पष्टरूप से करे व्यवस्थित उसे यहाँ हम कहें मति ७।।

अन्वयार्थ :- [**श्रुत्या सम्यक् निरूपितः**] श्रुति के द्वारा सम्यक् रूप से निरूपित (व्याख्यायित) [**शुद्धः स्वात्मा**] शुद्ध निजात्मा [**यया युक्तया**] जिस युक्ति से [**अञ्जसा व्यवस्थाप्यते**] स्पष्ट रूप से व्यवस्थापित किया जाता है [**असौ अत्र 'मतिः' अनुमन्यताम्**] उसे यहाँ (अध्यात्म-शास्त्र में) 'मति' मानना चाहिए।

व्याख्या :- यहाँ ग्रन्थकार ने मति शब्द का उपयोग एक विशेष अर्थ में किया है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय, सूत्र-१३ में **'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'** मति के अन्य पर्यायवाची नाम दिये हैं। यहाँ इस अर्थ में मति शब्द का उपयोग नहीं किया गया है।

---

१. कर्म-चेतना (रागादि परिणाम) व कर्मफल-चेतना (इन्द्रिय सुख-दुख का वेदन) में एकाग्रता अज्ञान का संचेतन है। ज्ञाननय व क्रियानय के ग्रहण-त्याग का स्वरूप व फल पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ के अन्त में विस्तार से कहा गया है।

गुरुवाणी में जिसका भले प्रकार निरूपण किया गया हो वह शुद्ध स्वात्मा जिसके द्वारा युक्तिपूर्वक व्यवस्थापित अथवा नय-प्रमाण के बल पर संसिद्ध किया जाता है, उसका यहाँ 'मति' के नाम से निर्देश किया गया है। गुरुवाणी प्रायः उपदेश या आदेश के रूप में होती है, युक्तिवाद के बिना गुरुवाणी का विषय हृदयंगम करने में दृढ़ता नहीं आती। आत्मतत्त्व अनेक शक्तियों वाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है, किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता।

गुरुवाणी में वर्णित आत्मा का अनेकान्तस्वरूप (अनेक धर्म स्वरूप) वैभव अद्‌भुत (आश्चर्य कारक) है। निर्मलबुद्धि वालों के मन को आत्मा का अनेकान्तस्वरूप विमोहित (भ्रमित) नहीं करता, वरन् उनके ज्ञान में अनेकान्तस्वरूप आत्मतत्त्व परस्पर सुसंगत प्रगट शक्तियों के समूहरूप स्फुरायमान होता है।

मति का यथार्थस्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२६५ में निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं –

''नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वाद शुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो,
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः॥

अर्थ :- ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त-संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, जिननीति का

(जिनेश्वरदेव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए, सत्पुरुष ज्ञान स्वरूप होते हैं।''

श्रुति के द्वारा सम्यक्-निरूपित शुद्ध स्वात्मा का युक्तिपूर्वक ज्ञान में व्यवस्थापित होना क्यों आवश्यक है ? यह वस्तुस्थिति समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने निरूपित की है:-

''इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजैरहो
सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं॥२७३॥

कषायकलिरेकतः स्खलित शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥२७४॥

अर्थ :- अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि – एक ओर से देखने पर वह अनेकता (उत्पाद-व्यय) को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा एकता (ध्रौव्य) को धारण करता है; एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है (पर्याय) और एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव (गुण व द्रव्य) है; एक ओर से देखने पर परम विस्तृत (सर्वगत) और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ (एक गत) है। एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर शान्ति है; एक ओर से देखने पर भव की (सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करती है (मुक्त स्वरूप है); एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं

और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। ऐसी आत्मा की अद्‌भुत से अद्‌भुत स्वभाव-महिमा जयवन्त वर्तती है अर्थात् किसी से बाधित नहीं होती है।''

जिनवचन वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले हैं। वे शब्द रूप हैं। शब्द तो पुद्‌गल हैं, परन्तु उनमें वस्तु स्वरूप को कहने की शक्ति स्वयमेव है। जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं; वे इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके – जान करके स्याद्वाद न्याय का उल्लंघन न करते हुए ज्ञानस्वरूप होते हैं। उनका किसी प्रकार मोह दूर हो गया हो तो वे ज्ञानमात्र निजभावमय अकम्प भूमिका (प्रशस्त ध्यान) का आश्रय लेते हैं। वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं। जो मूढ़ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं अर्थात् श्रुति के अनुसार जिनकी मति (बुद्धि) व्यवस्थित नहीं होती, वे इस भूमिका को प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं।

श्रुति के अनुसार मति व्यवस्थित होने में स्याद्वाद की भूमिका अलंघनीय है। समयसार कलश-२६२ में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं:-

''इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते॥

अर्थ :- इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व (शुद्ध स्वात्मा) प्रसिद्ध करता हुआ, स्वयमेव अनुभव में आता है।''

प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र (गाथा ८१-८२ की टीका में) निश्चित स्थिर ज्ञान को मति व्यवस्थित होना कहते हैं।

---

१. पाठभेद-स्पर्शवर्ती

''जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक् तत्त्व को (सच्चे स्वरूप को) प्राप्त किया है ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। सभी अरहन्त भगवान उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके तथा उसी प्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है ऐसा निश्चित होता है। अधिक प्रलाप से बस होओ। मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। **(व्यवस्थिता मतिर्मम)**।''

ध्याति का लक्षण

सन्तत्या वर्तते बुद्धिः शुद्धस्वात्मनि या स्थिरा।
ज्ञानान्तरास्पर्शवती[४] सा ध्यातिरिह गृह्यताम् ॥८॥

निज शुद्धातम में जो रहती सदा लीन उस बुद्धि को।
ज्ञानान्तर को स्पर्श करे नहिं यहाँ उसे ध्याति जानो॥८॥

अन्वयार्थ :- [**या बुद्धिः**] जो बुद्धि [**शुद्ध-स्वात्मनि**] शुद्ध स्वात्मा में [**संतत्या स्थिरा वर्तते**] संतति से (एक-एक समय करके संतान रूप से) स्थिर रहती है, [**ज्ञानांतर-अस्पर्शवती सा**] ज्ञानांतर का स्पर्श न करने वाली उस (बुद्धि) को [**इह 'ध्यातिः' गृह्यताम्**] यहाँ (अध्यात्म-शास्त्र में) 'ध्याति' मानना चाहिए।

व्याख्या :- जो बुद्धि संतति से – सन्तान क्रम अथवा प्रवाहरूप से, शुद्ध स्वात्मा में स्थिर वर्तती है अर्थात् अपने शुद्धात्मा का अनुभव (स्व-संवेदन) करती रहती है, स्वशुद्धात्मा के ज्ञान से भिन्न पर पदार्थों के ज्ञान का स्पर्श नहीं करती, उसे यहाँ 'ध्याति' नाम से ग्रहण करना चाहिये। इसप्रकार शुद्ध स्वात्मा के ध्यानरूप परिणत बुद्धि ही ध्याति नाम को प्राप्त होती है।

यहाँ 'ध्याति' नाम को प्राप्त बुद्धि के दो विशेषण 'स्थिरा' एवं 'ज्ञानान्तरास्पर्शवती' विशेषरूप से ध्यान में लेने योग्य हैं। ध्यान का

प्रसिद्ध लक्षण 'एकाग्र-चिन्ता-निरोध' है, ये विशेषण इस लक्षण को सूचित करते हैं। यदि बुद्धि ध्येय के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को भी स्पर्श कर रही हो तो समझना चाहिये कि वह ध्येय में एकाग्र नहीं है। वह बुद्धि 'ध्याति' पद के योग्य नहीं है। आचार्य नागसेन तत्त्वानुशासन श्लोक-७२ में ध्याति का स्वरूप इसप्रकार बताते हैंः-

''इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानान्तरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता॥

अर्थ :- ध्यान करने योग्य जो स्थिर पदार्थ है, उसमें अन्य ज्ञान (अन्य पदार्थों का ज्ञान) का स्पर्श न करने वाली जो संतान रूप स्थिर बुद्धि है अर्थात् जो बुद्धि उसी में स्थिर रहती है उसको ध्याति या ध्यान कहते हैं।''

निज शुद्धात्मा का निरन्तर अनुभव करने की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२४४ में लिखते हैं –

''अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति॥

अर्थ :- बहुत कथन से और बहुत विकल्पों से बस होओ, बस होओ, यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एक मात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो; क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है।''

आचार्य अकलंकदेव परमानन्द स्तोत्र छन्द-१० में ध्याति का स्वरूप इसप्रकार बताते हैंः-

''तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम्॥

श्लोकार्थ :- जिस ध्यान के द्वारा यह चंचल मन स्थिर होकर परमानन्द स्वरूप में विलीन (मग्न) हो जाता है, वही ध्यान भव्यजीव (मोक्षार्थी) करते हैं तथा उसी समय चैतन्य-चमत्कारमात्र शुद्ध परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है।''

परमानन्द स्तोत्र छन्द-१ में कहते हैं–

''परमानन्द-संयुक्तं निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम्॥

अर्थ :- परमानन्द संयुक्त, निर्विकार व निरोग (स्वस्थ) शुद्ध स्वात्मा अपने शरीर में व्यवस्थित है, परन्तु ध्यानहीन पुरुष उसे नहीं देखता।''

धर्म व शुक्लध्यान को ध्याने वाले योगी को ध्याता कहते हैं।

दृष्टि का लक्षण

शुद्धः स्वात्मा यया साक्षात् क्रियते ज्ञानविग्रहः।
विशिष्टभावना-स्पष्ट-श्रुतात्मा दृष्टिरत्र सा ॥९॥

ज्ञान शरीरी निज शुद्धातम जिससे होता है साक्षात्।
जो स्पष्ट विशिष्ट भाव से वह श्रुतात्म है दृष्टि भ्रात॥९॥

अन्वयार्थ :- [**ज्ञान-विग्रहः शुद्धः स्वात्मा**] ज्ञान-शरीरी शुद्ध निजात्मा [**यया साक्षात् क्रियते**] जिसके द्वारा साक्षात् किया जाता है, प्रकट किया जाता है [**विशिष्ट-भावना-स्पष्ट-श्रुतात्मा**] विशिष्ट भावना के द्वारा स्पष्ट किया है श्रुत की आत्मा को (जिनवाणी के मर्म को) जिसने, [**पसा अत्र 'दृष्टिः'**] उसे यहाँ (अध्यात्म-शास्त्र में) 'दृष्टि' मानना चाहिए।

व्याख्याः- ध्याति के अनन्तर जिसके द्वारा शुद्ध स्वात्मा का साक्षात् – प्रत्यक्ष अवलोकन किया जाता है, उसका नाम दृष्टि है।

यहाँ 'दृष्टि' से तात्पर्य वह अन्तर्दृष्टि है जो व्यवधानों को भेदकर शुद्ध-स्वात्मा का दर्शन कराने वाली है। इस दृष्टि द्वारा स्वात्मा अपने शुद्ध-स्वरूप में रागादि विकल्पों से रहित 'ज्ञान शरीरी' दृष्टिगत होता है। वह दृष्टि विशिष्ट-भावना के बल पर सारे श्रुतज्ञान को अपने में स्पष्ट अंकित किये हुए है।

संवित्ति और दृष्टि

निज-लक्षणतो लक्ष्यं यद्वानुभवतः(ति) सुखम् ।
सा संवित्तिर्दृष्टिरात्मा लक्ष्यं दृग्धीश्च लक्षणम् ॥१०॥

जो निज लक्षण से सुलक्ष्य अथवा सुख का अनुभव करती ।
लक्ष्य आत्मा, लक्षण दर्शन-ज्ञान युक्त दृग संवित्ति ॥१०॥

अन्वयार्थ :- [**यद् निजलक्षणतः लक्ष्यं सुखं वा अनुभवति**] जो अपने लक्षण से लक्ष्य को अथवा सुख को अनुभव करे– जाने [**सा दृष्टिः संवितिः**] वह दृष्टि ही संवित्ति है। [(तस्याः) **लक्ष्यम् आत्मा, लक्षणं च दृग्धीः**] उस संवित्ति का लक्ष्य आत्मा है और लक्षण दर्शन व ज्ञान है।

व्याख्याः- अध्यात्म विषयक अनेक ग्रन्थों में दृष्टि के विषय के इस आत्म साक्षात्कार को संवित्ति (स्व-संवेदन) के नाम से उल्लिखित किया गया है। जो आत्मारूप लक्ष्य को उसके निजलक्षण– दर्शन और ज्ञान के द्वारा भले प्रकार अनुभव किया करती है उसे संवित्ति कहा गया है।

संवित्ति का स्वरूप आचार्य माइल्लधवल ने गाथा-३५१ में इसप्रकार कहा है :-

''लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं ।
सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिद्दहणा ॥

गाथार्थ : लक्षण के द्वारा लक्ष्य का अनुभव करते हुए जो सुख

होता है उसे संवित्ति कहते हैं। यह संवित्ति समस्त विकल्पों को नष्ट करने वाली है।''

आगम के अभ्यास से आत्मा के स्वरूप को जानकर उस स्वरूप का अनुभव करते समय जो आन्तरिक सुख होता है उसे संवित्ति कहते हैं। यह संवित्ति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। आत्मस्वभाव को जानकर भी उसमें रुचि होना चाहिए। रुचि हुए बिना आत्मानुभव नहीं होता। आत्मानुभव ही समस्त संकल्प-विकल्पों का नाशक है, क्योंकि आत्मानुभूति के काल में कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहता। ज्यों-ज्यों उसमें स्थिरता आती जाती है त्यों-त्यों विकल्पों से छुटकारा होकर निर्विकल्प दशा प्राप्त होती जाती है।

श्रुति, मति, ध्याति पूर्वक दृष्टि की प्रवृत्ति को आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश-२३४ में स्पष्ट किया है –

''इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्, विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेक निश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते॥

अर्थ :- यहाँ से अब समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा पृथक किया गया ज्ञान, पदार्थ के विस्तार के साथ गुथित होने से (अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होने वाली (अनेक प्रकार की) क्रिया उनसे रहित एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल और दैदीप्यमान होता हुआ निश्चल रहता है।''

योगी गुरुवाणी से प्राप्त श्रुति से अपने अनादि अज्ञान से होने वाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय प्रवृत्ति (कर्म के उदय से जुड़कर होने वाली प्रवृत्ति) को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके – ऐसे स्वसमयरूप परिणमन स्वरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके (ध्याति), सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव

को प्राप्त हुआ (दृष्टि) है और जिसमें कोई ग्रहण-त्याग नहीं है – ऐसे साक्षात् समयसार स्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल शुद्ध, पूर्ण ज्ञान (पूर्ण आत्मद्रव्य) को देखता है।

यहाँ देखना तीन प्रकार से समझना चाहिये –

(१) शुद्धनय का ज्ञान (शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निश्चय) करके पूर्णज्ञान (आत्मा) का श्रद्धान करना यह प्रथम प्रकार का देखना (दृष्टि) है। वह अविरत आदि अवस्था में होता है।

(२) ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद सर्व बाह्य परिग्रह का त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना अर्थात् उपयोग को ज्ञान स्वरूप आत्मा में स्थिर करना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना एवं श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना और पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है। इसप्रकार का देखना (स्वसंवित्ति) अप्रमत्त दशा में मुनिजनों को होता है। जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यहाँ तक तो पूर्ण आत्मा का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।

(३) जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है, यह तीसरे प्रकार का देखना है। उसी स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-दृष्टा है। यह पूर्णज्ञान (आत्मा) का प्रत्यक्ष देखना है।

आचार्य कुन्दकुन्द दृष्टि की सिद्धि की प्रेरणा करते हुए समयसार गाथा-४१२ में इसप्रकार कहते हैंः-

''मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥

अर्थ :- हे भव्य ! तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत – अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।''

इसप्रकार निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से अल्पकाल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है – यह नियम है।

आचार्य अकलंकदेव ने परमानन्द स्तोत्र छन्द-१५ में शुद्धदृष्टि का फल इसप्रकार बताया है :-

''यत्क्षणे दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा निर्विकल्पसमाधिना॥

श्लोकार्थ :- योगी पुरुष को जिस क्षण निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का शुद्ध स्वरूप जानने में आता है, उसी समय योगी का चित्त आकुलता रहित (निर्विकल्प) होकर स्थिर हो जाता है और अज्ञान का नाश हो जाता है।''

इसप्रकार जब जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र परिणामों से स्व-स्वादरूप स्वानुभव होता है, उन परिणामों को निर्विकल्प दशा, स्वसंवेदन भाव, स्वाचरण, शुद्धोपयोग, भावमति, भावश्रुत, आत्मसन्मुख उपयोग आदि नामों (संज्ञाओं) द्वारा कहा गया है।

अब मति आदि चार शक्तियों से जिस दृष्टि की सिद्धि होती है उस दृष्टि का माहात्म्य बताते हैं :-

दृष्टि का माहात्म्य

सैव सर्व विकल्पानां दहनी दुःख दायिनाम्।
सैव स्यात्तत्परंब्रह्म सैव योगिभिरर्थ्यते ॥११॥

वही दृष्टि सब दुखद विकल्पों का करती है त्वरित शमन।
परम ब्रह्ममय उस दृष्टि का योगी करते नित्य मनन॥११॥

अन्वयार्थ :- [**सा एव**] वही (ऊपर के श्लोक में वर्णित – निजात्मा को साक्षात् करने वाली दृष्टि–संवित्ति) [**दुःखदायिनाम् सर्व-विकल्पानाम् दहनी**] दुख देने वाले सर्व विकल्पों को दहन करने वाली है [**सा एव तत् परंब्रह्म स्यात्**] वही उस परंब्रह्म रूप है [**सा एव योगिभिः अर्थ्यते**] वही योगियों द्वारा प्रार्थित की जाती है।

व्याख्या :- इस श्लोक में शुद्ध स्वात्मा का साक्षात्कार (शुद्धोपयोग) कराने वाली दृष्टि के माहात्म्य का वर्णन है। वह दृष्टि उन विकल्पों को भस्म कर देती है जो आत्मा को दुःख तथा कष्ट दिया करते हैं। यह दृष्टि ही परमब्रह्मरूप है, क्योंकि परमब्रह्म (निज शुद्धात्मा) को प्राप्त कराती है। ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी में संतुष्ट होना और उसी में तृप्त होना परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ज्ञानानन्द स्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये वह ही योगियों द्वारा प्रार्थनीय है, योगियों के लिए उपादेय है।

आत्मा के निजपद का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-२०३ में स्पष्ट करते हैं –

''आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण॥

अर्थ :- आत्मा में अपद्भूत द्रव्यभावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर, एक इस (प्रत्यक्ष अनुभव गोचर) भाव को जो कि (आत्मा के) स्वभावरूप से अनुभव किया जाता है, उसे हे भव्य! जैसा है वैसा ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)''

जिसमें समस्त भेद दूर हुए है ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान (सामान्य) का ही अवलम्बन करना चाहिये। उसके अवलम्बन से ही भ्रान्ति का नाश होता है, कर्म बलवान नहीं हो सकते, राग-द्वेष-

मोह उत्पन्न नहीं होते, राग-द्वेष-मोह के बिना पुनः कर्मास्रव नहीं होता, आस्रव के बिना पुनः कर्म बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं, निज आत्मा का लाभ होता है, अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, अन्ततः समस्त कर्म का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।

इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा-२०६ में भव्यजीवों को संबोधन करते हुए कहा– हे भव्य ! तू इसमें – ज्ञान में नित्य रत अर्थात् प्रीति वाला हो, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इसमें तृप्त हो। ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा, वचन से अगोचर सुख होगा, उस सुख को उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, प्रत्यक्ष वेदन करेगा।

आचार्य अकलंक देव परमानन्द स्तोत्र छन्द-२२ में कहते हैं:–

''सत्सदृशं निजात्मानं प्रकाशाय महीयसे।
सहजानन्द चैतन्यं यो जानाति स पण्डितः॥

श्लोकार्थ :- सिद्धपरमेष्ठी के समान परमज्योति स्वरूप केवल ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए जो पुरुष अपनी आत्मा को परमानन्दमय, चैतन्य-चमत्कार युक्त जानता है, वही वास्तव में पण्डित है।''

आचार्य अमृतचन्द्र श्री प्रवचनसार गाथा ८० की टीका में कहते हैं कि :- ''केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्त्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है, इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है, और इसप्रकार मणि की भांति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त) जीव के मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है। यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।''

इसप्रकार शुद्ध स्वात्मा का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि की प्राप्ति

ही मोह की सेना (समस्त पराश्रित परिणति) को जीतने का – रागादिरूप बंध संतति के आत्यन्तिक अभाव का मूल साधन है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२६६ में कहते हैं कि शुद्ध जीव स्वरूप का अनुभव करनेवाला सिद्धपद को प्राप्त होता है :-

''ये ज्ञानमात्र निजभावमयीमकम्पां,
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा,
मूढ़ास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति॥

अर्थ :- जो पुरुष किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ, ज्ञानमात्र निजभावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस मय निश्चल भूमिका का) आश्रय लेते हैं – निर्विकल्प रूप से अनुभव करते हैं वे मोक्ष की कारण रूप अवस्था (मोक्ष की साधक अवस्था) को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु जो मूढ़ हैं वे इस भूमिका को प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं।''

अब शुद्ध स्वात्मा को साक्षात् करने वाली दृष्टि की प्राप्ति के लिए श्रुत-सागर के मन्थन का उपदेश देते हैं :-

श्रुत-सागर का मन्थन

तदर्थमेव मथ्येत बुधैः पूर्वं श्रुतार्णवः।
ततश्चामृतमप्यन्यत् वार्तमेव मनीषिणाम् ॥१२॥

अतः प्रयोजन-सिद्धि हेतु पहले सागर मथे सुधी।
तब ही होगी शिव-प्राप्ति भी अन्य सभी कुछ है भूसी॥१२॥

अन्वयार्थ :- [**तदर्थम् एव**] उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए (स्व-संवित्ति की प्राप्ति के लिए) ही [**बुधैः पूर्वं श्रुतार्णवः मथ्येत**] बुधजनों द्वारा पहले श्रुत-समुद्र का मन्थन किया जाना चाहिए। [**ततः च अमृतम् अपि** (लभेत्)] तत्पश्चात् अमृत (मोक्ष) की भी (प्राप्ति हो

सकती है)। [**अन्यत्** (सर्वम्) **मनीषिणाम् वार्तम् एव**] अन्य सब कुछ मनीषियों के लिए सारहीन/भूसी ही है।

व्याख्या :- दृष्टि की प्राप्ति के लिए बुधजन पहले उपलब्ध श्रुतसागर अर्थात् चार अनुयोगों में लिपिबद्ध श्रुतज्ञान का मंथन अर्थात् रुचिपूर्वक अपनी आत्मा को उर्ध्व रखते हुए गहन अभ्यास करते हैं। उसी से शुद्ध स्वात्मा को साक्षात् कराने वाली दृष्टि की प्राप्ति होती है। उससे ही अमृत अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द या मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है। यदि श्रुताभ्यास से इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती तो वह श्रुताभ्यास, श्रुतसागर का मंथन बुद्धिशालियों का बुद्धि कौशल (वाक्-विलास) मात्र है, क्योंकि श्रुतसागर को मथकर वे अन्य अनेक बातों का आविष्कार किया करते हैं।

''श्रुतज्ञान के अवलम्बन से (आगम ज्ञान से) प्रथम ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख करके, फिर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्प रहित होकर, अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है।'' (आत्मख्याति गाथा-१४४ की टीका)

तत्त्वानुशासन श्लोक-८१ में आचार्य नागसेन ने भी कहा है :-

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेद्।
ध्यानस्वाध्यायसंपप्या परमात्मा प्रकाशते॥

अर्थः- ऐसे स्वाध्याय (जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का पठन-पाठन करना) से ध्यान का अभ्यास होता है, ध्यान से स्वाध्याय की वृद्धि होती है और ध्यान तथा स्वाध्याय इन दोनों सम्पदाओं से परमात्मा प्रकाशित होता है।

आत्मा के निज-वैभव के जन्म में श्रुताभ्यास की निमित्तरूप कारणता बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्र गाथा-५ की आत्मख्याति टीका में लिखते हैं :-

''इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासन जन्मा...

अर्थ :- इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक और 'स्यात्' पद की मुद्रा वाला जो शब्दब्रह्म-अर्हन्त का परमागम, उसकी उपासना से निज-वैभव का जन्म हुआ है।''

उन्होंने निज वैभव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया है कि निरन्तर झरता हुआ – स्वाद में आता हुआ जो सुन्दर आनन्द, उसकी मुद्रा (लक्षण) से युक्त प्रचुर संवेदन रूप स्वसंवेदन से पैदा हुआ ज्ञान का वैभव, वह निज वैभव है।

श्रुताभ्यास की सार्थकता ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानने में है – यह बात आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा-९ में भी कही है:-

''जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥

अर्थ :- जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभव-गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।''

आचार्य योगीन्दुदेव योगसार श्लोक-५३ में कहते हैं कि ''शास्त्रों को पढ़ते हुए जो आत्मा को नहीं पहिचानते हैं वे भी अज्ञानी हैं, यही कारण है कि ऐसे शास्त्रपाठी जीव भी निर्वाण को नहीं पाते हैं, यह बात स्पष्ट है।''

प्रवचनसार गाथा-२३२ में आचार्य कुन्दकुन्द आगम में व्यापार को मोक्षमार्ग का मूल साधन बताते हैं –

''एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्य अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥

अर्थ :- श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिए (मोक्षमार्ग में) आगम में व्यापार मुख्य है।''

श्रुतसागर के मन्थन अर्थात् आगम में बुद्धि के व्यापार बिना पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं होता। पदार्थों के निश्चय बिना अश्रद्धा-जनित तरलता, पर कर्तृत्वाभिलाषा-जनित क्षोभ और पर भोक्तृत्व अभिलाषा-जनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप प्रवर्तमान शुद्धात्म प्रवृत्ति नहीं होती। शुद्धात्म प्रवृत्ति न होने से मुनिपना (योगी) नहीं होता। इसलिए मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।

आगम की पर्युपासना से रहित जगत को आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभव न होने से 'यह जो अमूर्तिक आत्मा है सो मैं हूँ और ये समान क्षेत्रावगाही शरीरादिक हैं वे पर हैं; इसीप्रकार ये जो उपयोग है सो मैं हूँ और ये उपयोग-मिश्रित मोहरागद्वेषादि भाव हैं सो पर हैं,' इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता तथा उसे आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभव न होने से 'मैं एक ज्ञानस्वभावी परमात्मा हूँ' ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता।

प्रवचनसार गाथा-२३३ में आचार्य कुन्दकुन्द ने यह प्रतिपादन किया है कि आगमहीन को मोक्ष नहीं होता।

''आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥

गाथार्थ :- आगमहीन श्रमण आत्मा और पर को नहीं जानता, पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का किस प्रकार क्षय करे?''

जो आगम की पर्युपासना करके (१) परात्मज्ञान (स्व व पर का ज्ञान) तथा (२) परमात्म ज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) से सम्पन्न नहीं होता है उसे स्वानुभव न होने से ज्ञप्ति-परिवर्तन नहीं टलता। जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान है ज्ञप्ति-परिवर्तन अवश्यम्भावी है। परमात्म निष्ठता के अतिरिक्त ज्ञप्ति-परिवर्तन अनिवार्य है अर्थात् परमात्म निष्ठता (सद्-दृष्टि की उपलब्धि) के बिना उपयोग का पर का अवलम्बन लेकर ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप परिणमन नहीं टलता।

आगम की उपासना पूर्वक परात्मज्ञान व परमात्मज्ञान से परमात्म निष्ठता की सिद्धि होती है, अर्थात् शुद्ध स्वात्मा को साक्षात् कराने वाली दृष्टि की प्राप्ति होती है।

अब श्रुतसागर मन्थन में जिनकी वाणी निमित्त होती है, उन सद्गुरु का स्वरूप बताते हैं –

सद्गुरु का स्वरूप

यद्गिराभ्यस्यतः सा स्याद् व्यवहारात्स सद्गुरुः ।
स्वात्मैव निश्चयात्तस्यास्तदन्तर्वाग्भवत्वतः ॥१३॥

जिनके वचनों से होती संवित्ति वे व्यवहार-गुरु।
स्वात्मा ही निश्चय सद्गुरु है अतः वचन अन्तरात्मा हों ॥१३॥

अन्वयार्थ :- [**यतः**] जिससे (या) [**यद्-गिराभ्यः**] जिसकी वाणी के निमित्त से [**सा** (संवित्तिः) **स्यात्**] वह (**संवित्ति**) होती है, [**सः व्यवहारात् सद्गुरुः**] वह व्यवहार से सद्गुरु है। [**निश्चयात् स्वात्मा एव** (सद्गुरुः)] निश्चय से स्वात्मा ही सद्गुरु है। [**अतः तस्याः तद्-अन्तर-वाक् भवतु**] अतः वह उसके अन्तर की वाणी होवे (अन्तरात्मा की आवाज बन जावे)

व्याख्या :- योगी को सद्गुरु के निमित्त से श्रुति, मति, ध्याति

और दृष्टि ये चारों क्रमशः सिद्ध हो जाती हैं, ऐसे सद्गुरु व्यवहार नय और निश्चय नय की भेद दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं। व्यवहार सद्गुरु वह है जिसकी शब्दाक्षरमयी वाणी उस दृष्टि की प्राप्ति में बहिरंग निमित्त पड़ती है और निश्चय गुरु अपना आत्मा ही है, जिसको अन्तर्नाद (जो उस दृष्टि के ग्रहण में अन्तरंग निमित्तकारण होता है) की प्राप्ति होती है।

आचार्य श्री पूज्यपाद ने समाधितन्त्र छन्द-७५ में निश्चय गुरु के स्वरूप को इसप्रकार बताया है –

''नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरूरात्मात्मन तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।।

अर्थ :- देह आदि पर पदार्थों में अपनेपने की भावना की दृढ़ मिथ्याबुद्धि के वश आत्मा ही अपने आप को संसार में ले जाता है तथा वही आत्मा अपनी आत्मा में ही अपनेपने की बुद्धि की महिमा के वश से अपने को निर्वाण में ले जाता है, अतः निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।''

साक्षात् गुरु अथवा परम्परा गुरु की वाणी जो सत्शास्त्रों में गूंथी हुई है और जो स्वात्माभिमुखी है उससे अंतर्नाद सुना जाता है। जिसे अन्तर्नाद सुनायी पड़े उसे निज-आत्मा निश्चय गुरु है और साक्षात् गुरु अथवा परम्परा गुरु (की वाणी) बहिरंग निमित्त होने से वे व्यवहार गुरु हैं। आत्मा का अन्तर्नादरूप परिणमन उस दृष्टि के ग्रहण में अन्तरंग कारण पड़ता है और जिसके विवेक बिना व्यवहार गुरु का वचन अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता। व्यवहार गुरु के वचन का भाव विपरीत अभिनिवेश रहित ग्रहण होने पर ही वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

सद्गुरु की उपेक्षा करने वाला स्वच्छंदी और अभिमानी कहा

गया है, अतः शुद्धात्मा की सिद्धि के लिए सद्गुरु की आज्ञा और उसकी शरण में जाना चाहिये।

अब योगी जिस मार्ग का अनुसरण करके मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, उस (योग) मार्ग का स्वरूप कहते हैं :-

मोक्षमार्ग का स्वरूप

रत्नत्रयात्म-स्वात्मैव मोक्षमार्गोञ्जसास्ति तत् ।
स पृष्टव्यः स एष्टव्यः स द्रष्टव्यो मुमुक्षुभिः॥१४॥

वह रत्नत्रयमय निजात्म ही मोक्षमार्ग, स्पष्ट लखो।
मोक्षार्थी को वही पूछने योग्य, उसे चाहो देखो॥१४॥

अन्वयार्थ :- [**तत् रत्नत्रयात्म-स्वात्मा एव**] वह रत्नत्रयात्मक निजात्मा ही [**अञ्जसा**] स्पष्ट-रूप से (वास्तव में) [**मोक्षमार्गः अस्ति**] मोक्षमार्ग है। अतः [**मुमुक्षुभिः सः** (एव) **पृष्टव्यः**] मुमुक्षुओं के द्वारा वह (निजात्मा) ही प्रश्न द्वारा समझने योग्य है, [**सः एष्टव्यः**] वही अभिलषणीय है, [**सः द्रष्टव्यः**] वही देखने योग्य है।

व्याख्या :- जिस पुरुष के सद्गुरु के प्रसाद से श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि ये चारों शक्तियाँ क्रमशः सिद्ध हो जाती हैं उसे रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग ही पृच्छणीय (पूछने योग्य), अभिलषणीय और दर्शनीय होता है। आत्मा की शुद्ध परिणति ही स्पष्टरूप से मोक्षमार्ग है।

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है, परन्तु उसका पूर्णरूप साध्य भाव है और अपूर्णरूप साधक भाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-१६ में कहते हैं –

''दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥

अर्थ :- साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं; और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।''

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, परमार्थ से देखा जाय तो, आत्मा की एक परिणति ही है। निज शुद्धस्वभाव का दर्शन सम्यग्दर्शन है, निज शुद्धस्वभाव को जानना सम्यग्ज्ञान है, निज शुद्धस्वभाव में स्थिरता सम्यग्चारित्र है। साध्य आत्मा की सिद्धि इन तीन भावों से ही होती है। इसलिए यह ही मोक्षमार्ग है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावोंरूप एक आत्मा ही परिणमन करता है। इसलिए साधु पुरुष (योगी) को एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये – यह निश्चय है।

प्रमाण दृष्टि से देखा जाय तो यह आत्मा एक ही साथ मेचक अर्थात् अनेक अवस्था रूप भी है और अमेचक अर्थात् एक अवस्था रूप भी है, क्योंकि आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो तीनपना है और अपने से अपने को एकत्व है। भेद दृष्टि को गौण करके अभेद दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, इसलिए आचार्य ने जो कहा कि साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवनीय हैं, उसका यथार्थ तात्पर्य यह हुआ कि एकमात्र निज शुद्धात्मा ही सेवनीय है। व्यवहारीजन पर्याय में भेद से समझते हैं इसलिए आचार्य ने उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से समझाया है।

मोक्षार्थी पुरुष (मुमुक्षु) को पहले तो आत्मा (निज शुद्धात्मा) को जानना चाहिये, फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा', और तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिये – अनुभव द्वारा उसी में लीन होना चाहिये, क्योंकि साध्य (निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्ध स्वरूप) की सिद्धि इसी प्रकार से होती है, अन्य प्रकार से नहीं।

श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव भी योगसार के दूहा-५ में मोक्षसुख

की प्राप्ति के लिए निर्मल आत्मा का ध्यान करने का उपदेश देते हैं–

''जइ वीहउ चउगइगमणु, तउ परभाव चएवि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्ख लहेवि॥

अर्थ :- यदि चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है तो परभावों को छोड़ दे। निर्मल आत्मा का ध्यान कर जिससे तू मोक्ष सुख को पा सके।''

आत्मतत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रयात्मक है, इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को मोक्षमार्ग एक ही सेवन करने योग्य है।

इसलिए मुमुक्षुओं के द्वारा वही पृच्छनीय (पूछने योग्य-जानने योग्य), अभिलषणीय (अभिलाषा करने योग्य) और दर्शनीय (दृष्टि में लेने योग्य) है। अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करते हुए वह ही निरन्तर विहार करने योग्य है। इस निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से अल्पकाल में ही योगी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह नियम है। पूर्णज्ञान स्वरूप, सर्व शक्तियों के समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही कृतकृत्यता है। ऐसा होने पर जो कुछ त्यागने योग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है।

मोक्ष-साध्य की साधक अवस्थारूप मोक्षार्थी की परिणति में शुद्धता व अशुद्धता साथ-साथ रहती है, अतः रत्नत्रय परिणति निश्चय व व्यवहार नय द्वारा कही गयी है।

रत्नत्रय का व्यवहार व निश्चय स्वरूप

शुद्धचिदानन्दमयं स्वात्मानं प्रति तथा प्रतीत्यनुभूत्योः।
स्थित्यां चाभिमुखत्वं गौण्या दृग्धीक्रियास्तदुपयोगोऽग्रयाः॥१५॥

शुद्ध चिदान्दमय स्वात्मा की हो प्रतीति अनुभूति स्थिति।
गौण रत्नत्रय अरु निश्चय, उपयोग उसी में होवे लीन॥१५॥

अन्वयार्थ :- [**शुद्ध-चिदानन्दमयं स्वात्मानं प्रति**] शुद्ध-चिदानन्दमय स्वात्मा के प्रति [**तथा**] तदरूप अर्थात् जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसी ही [**प्रतीत्यनुभूत्योः स्थित्यां च अभिमुखत्वम्**] प्रतीति, अनुभूति और स्थिति रूप अभिमुखता [**गौण्या**] गौण (व्यवहार) रत्नत्रय है, और [**दृग्-धी-क्रियाः, तदुपयोगः अग्रया**] दर्शन, ज्ञान, चारित्र (प्रतीति, अनुभूति और स्थिति) में उपयुक्तता (उपयोग की प्रवृत्ति) अग्र (मुख्य/निश्चय) रत्नत्रय है।

व्याख्याः- यहाँ गौण-मुख्यरूप रत्नत्रय का उल्लेख है। सार यह है कि शुद्ध चिदानन्दमय आत्मा के प्रति प्रतीति वह दर्शन है, अनुभूति वह ज्ञान है और स्थिति वह चारित्र है। इस (व्यवहार अभिमुखता) प्रतीति, अनुभूति और स्थिति की अभिमुखतारूप शुभोपयोग-परिणति व्यवहार (गौण) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

इस प्रतीति, अनुभूति तथा स्थितिरूप उपयोग की प्रवृत्ति वह मुख्य (निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। दोनों प्रकार के रत्नत्रय का विषय शुद्ध-चिदानन्दमय स्वात्मा ही है।

तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं :-

''मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार से दो प्रकार का है। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है, व्यवहार मार्ग साधन है। अपने ही शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व स्वरूप में लीनतारूप चारित्र ऐसा निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्मा का शुद्धभाव निश्चय मोक्षमार्ग है। पर पदार्थों की अपेक्षा से श्रद्धान, ज्ञान व उपेक्षाभाव व्यवहार मोक्षमार्ग है। व्यवहार के सहारे निश्चय को प्राप्त करना चाहिये।''– उपसंहार श्लोक २-४

व्यवहार रत्नत्रय राग सहित होता है। निश्चय रत्नत्रय वीतराग

परिणति है। निश्चय रत्नत्रय से पूर्व निज शुद्धात्मा का ज्ञान, प्रतीति व लीनता के अभिमुख परिणति होती ही है, परन्तु वह राग सहित होती है। व्यवहार-रत्नत्रय विशेष के आविर्भाव और सामान्य के तिरोभावरूप होता है। निश्चय-रत्नत्रय सामान्य के आविर्भाव व विशेष के तिरोभावरूप होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो जो ज्ञान (आत्मा) विशेष के आविर्भाव से अनुभव – सविकल्प संवेदन में आता है वही ज्ञान (आत्मा) सामान्य के आविर्भाव से अनुभव – निर्विकल्प संवेदन में आता है।

साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्य प्रकार से नहीं। पहले आत्मा को जाने कि यह जानने वाला अनुभव में आता है 'सो मैं हूँ।' इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है, क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्य भावों से भेद करके अपने में स्थिर हो। उपयोग जब तक स्व शुद्धात्मा में स्थिर न हो तब तक यह ज्ञान, प्रतीति व लीनता – अभिमुख परिणति है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय है। उपयोग का स्व शुद्धात्मा में एकाग्र होना है चिन्ह जिसका – ऐसी आत्मज्योति अनुभव में आती है तो अनन्तचैतन्यस्वरूप निर्मल आत्मा पर्याय में प्रगट होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष इस आत्मज्योति का निरन्तर अनुभव करते हैं।

समयसार कलश-२० में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :-

''कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।।

अर्थ :- अनन्त चैतन्य जिसका चिन्ह है ऐसी इस आत्म ज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि उसके अनुभव के बिना अन्य

प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्म ज्योति ऐसी है कि जिसने किसी प्रकार त्रित्व (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) अंगीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई और जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।''

बृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३९ में व्यवहार व निश्चय नय से मोक्ष का कारण इसप्रकार निरूपित किया गया है :-

''सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥

गाथार्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो।''

निज निरंजन शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की एकाग्र परिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा मात्र स्वसंवेदन से उत्पन्न, रागादि विकल्प की उपाधि से रहित – ऐसे सुख की अनुभूतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और व्रतादि के आचरण के विकल्प रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है।

जिस नय में साध्य व साधन भिन्न प्ररूपित किये जावें वह यहाँ व्यवहार नय है। जैसे कि छठवें गुणस्थान की भूमिका में नवपदार्थ सम्बंधी श्रद्धान, तत्त्वार्थ ज्ञान और पंचमहाव्रतादिरूप चारित्र व्यवहार नय से मोक्षमार्ग है।

जिस नय में साध्य व साधन अभिन्न हों वह यहाँ निश्चय नय है, जैसे निर्विकल्पध्यान परिणत मुनि को निश्चय नय से मोक्षमार्ग

है क्योंकि वहाँ साध्य और साधन एक प्रकार के अर्थात् शुद्धात्मा रूप हैं।

अब साक्षात् मोक्षमार्गरूप निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप कहते हैं:-

निश्चय रत्नत्रय

बुद्ध्याधानाच्छ्रद्धानः स्वं संवेदयते स्वयम्।
यथा संवेद्यमाने स्वे लीयते च त्रयीमयः॥१६॥

रत्नत्रयमय आत्मा श्रद्धा करता, बुद्धि को एकाग्र।
करता हुआ स्वसंवेदन, संवेद्य स्वयं में हो एकाग्र॥१६॥

अन्वयार्थ :- [**त्रयीमयः** (पुरुषः)] रत्नत्रय रूप परिणत आत्मा [**बुद्ध्याधानात्**] बुद्धि की एकाग्रता से [**श्रद्दधानः**] श्रद्धान करता हुआ [**स्वं संवेद्यते स्वयम्**] स्वयं स्वात्मा का संवेदन करता है, **(यथा)** ऐसा कि [**संवेद्यमाने स्वे लीयते च**] संवेद्यमान निजात्मा में लीन हो जाता है।

व्याख्या :- सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप त्रिगुणात्मक जीव बुद्ध्याधान (बुद्धि में आत्मा की धारणा) से स्वात्मा का श्रद्धान करता है और स्वसंवेदन रूप स्वात्मा में स्वयं लीन होता है। निश्चय रत्नत्रय अपने संवेद्यमान शुद्ध स्वरूप में स्वयं लीन होने रूप है। इस हेतु बुद्धि में स्वात्मा का श्रद्धान होना ही चाहिये। जो स्वात्मा को बुद्धि में धारण करके शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है और इस रीति से संवेद्यमान शुद्ध स्वरूप में स्वयं लीन होता है, उसकी यह लीनता ही सम्यक् चारित्र गुण का उच्चतम विकास है। इसलिए निश्चय रत्नत्रय में, बुद्धि में स्वात्मा के धारण का बड़ा माहात्म्य है।

श्री तत्त्वानुशासन श्लोक-३२ में कहा है :-

''यो मध्यस्थः पश्यतिजानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः॥

अर्थ :- जो (मध्यस्थ) वीतरागी आत्मा, आत्मा में, आत्मा के द्वारा, आत्मा को देखता व जानता है वह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है। इसलिए आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।''

शुद्ध निश्चयनय से देखा जावे तो आत्मा एक स्वरूप है। आत्मा का उपयोग जब शुद्ध स्वात्मा का संवेदन करता है, उस समय शुद्ध स्वभाव का अवलोकन दर्शन है, शुद्ध स्वभाव का प्रत्यक्ष जानना ज्ञान है और शुद्ध स्वभाव में स्थिरता चारित्र है। इसी से साध्य आत्मा (पूर्ण शुद्ध आत्मा) की सिद्धि होती है। यही मोक्षमार्ग है अन्य नहीं।

व्यवहारीजन पर्याय में – भेद में समझते हैं इसलिए यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद से समझाया है। आत्मा की एकसमय की पर्याय में ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र घटित होते हैं; क्योंकि दर्शन, ज्ञान व चारित्र गुण की ये पर्यायें वास्तव में आत्मा की एक ही पर्याय है। इसलिए भेद रूप कथन करके समझाने पर भी एक आत्मा का सेवन ही निश्चय रत्नत्रय या मोक्षमार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यही बात समयसार कलश-१७ में कही है:-

''दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः॥

अर्थः- आत्मा एक है, तथापि व्यवहार दृष्टि में देखा जाय तो तीन-स्वभावरूपता के कारण अनेकाकाररूप (मेचक) है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों भावों रूप परिणमन करता है।''

एक आत्मा के परिणमन को तीन रूप परिणमित होता हुआ कहना व्यवहार हुआ, असत्यार्थ हुआ।

प्रवचनसार गाथा-२४२ में आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्ग (श्रामण्य) का लक्षण एकाग्रता निश्चित करते हैं :-

''दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।।''

गाथार्थ :- जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में एक ही साथ आरूढ़ है वह एकाग्रता को प्राप्त है इसप्रकार शास्त्र में कहा है, उसके श्रामण्य परिपूर्ण है।

इसी की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा है –

''ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की जैसी है वैसी ही, यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञान पर्याय है, ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर (अन्य क्रिया) से निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि-ज्ञातृतत्त्व में परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्र पर्याय है। इन पर्यायों के और आत्मा के भाव्य-भावकता (आत्मा भावक व सम्यग्दर्शनादि पर्यायें भाव्य हैं) के द्वारा उत्पन्न अतिगाढ़ इतरेतर मिलन के बल के कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत अंग-अंगी भाव से परिणत आत्मा के आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है वह संयतपना एकाग्रता लक्षण वाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है – ऐसा मोक्षमार्ग ही है, क्योंकि वहाँ (संयतपने में) पेय की भांति अनेकात्मक एक का अनुभव होने पर भी समस्त परद्रव्य से निवृत्ति होने से एकाग्रता प्रगट है।''

अब निश्चय रत्नत्रय के अंगभूत सम्यग्ज्ञान का स्वरूप समझाते हैं:-

सम्यग्ज्ञानरूप बुद्धि का स्वरूप

यथास्थितार्थान् पश्यन्ती धीः स्वात्माभिमुखी सदा।
बुद्धिरत्र तदा बन्धो बुद्धयाधानं तदन्वियात् ॥१७॥
जो यथार्थ वस्तु को लखती हुई स्व-सन्मुख होती है।
उसे यहाँ बुद्धि कहते, हे बन्धु! उदय सम्बन्ध तजो॥१७॥

अन्वयार्थ :- [**या धीः**] जो बुद्धि [**सदा यथास्थित-अर्थान्**] सदैव यथावस्थित पदार्थों को (जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसे उसी रूप में) [**पश्यन्ती**] देखती हुई [**स्वात्माभिमुखी**] अपनी आत्मा के सम्मुख होती है, [(सा) **अत्र बुद्धिः** (कथिता)] उसे यहाँ 'बुद्धि' कहा गया है। [**तदा बन्धो**] तब हे बन्धु ! [**बुद्ध्याधानम् तदन्वियात्**] उस बुद्धि के आत्मसंबन्ध को समझो।

व्याख्या :- पदार्थ जिस रूप में अपने स्वरूप (द्रव्य-गुण-पर्याय) से स्थित है, जो बुद्धि उनको उसी रूप में देखती-जानती है, अन्यथा अथवा न्यूनाधिक नहीं देखती-जानती और सदा स्वात्मा के सम्मुख रहती है, स्वात्मा के ज्ञान से कभी विमुख नहीं होती, उस सुमति को यहाँ बुद्धि कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में इस ज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं (गाथा-२९४-२९९) प्रज्ञा के द्वारा ही जीव तथा बंध को अपने-अपने नियत निश्चित स्व-लक्षणों से छेदा जाता है अर्थात् अलग किया जाता है। स्व-लक्षणों से सर्वथा भिन्न करके प्रज्ञा ही बंधभाव को छोड़ती है और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करती है। निज शुद्ध-आत्मा को ग्रहण करने का साधन भी प्रज्ञा है। वह प्रज्ञा ही यह निश्चय करती है कि जो चेतने वाला (शुद्ध आत्मा) है सो मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं। जो देखने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं। जो जानने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं। ऐसा जानना प्रज्ञा के द्वारा निज शुद्ध-आत्मा का ग्रहण कहा गया है।

इसप्रकार ज्ञान-स्वरूप बुद्धि या प्रज्ञा – ज्ञान का वह व्यापार है जो सब पदार्थों के स्वरूप को यथार्थतः जानकर जीवभाव व बंधभाव का भेद करके जीवभाव में स्व की स्थापना करता है। परभावों से निजशुद्ध आत्मा को भिन्न देखना-जानना व निज शुद्ध-आत्मा का

ग्रहण करना अर्थात् चेतना का अनुभव करना – अपने को दर्शनमात्र भावरूप, ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना है।

विभाव की रुचि टूटना इस प्रज्ञा का लक्षण है। विभाव में उपादेय बुद्धि हो तो बुद्धि स्वात्माभिमुखी नहीं हो सकती। निजशुद्धात्मा की रुचि इस बुद्धि का लक्षण बताया गया है। यह बुद्धि ही मोक्षमार्ग में साधन (करण) की भूमिका का निर्वाह करती है। जो बुद्धि पर पदार्थों में और विभाव में अटकी हुई है वह योगी की योग-साधना में साधन नहीं बनती। निश्चय रत्नत्रय की प्रगटता भी इस बुद्धि (प्रज्ञा) से होती है और रत्नत्रय की पूर्णता का साधन भी यह भगवती प्रज्ञा ही है।

आचार्य अकलंकदेव परमानन्द-स्तोत्र, छन्द-५ में सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं कि ''जो संकल्प-विकल्पों के नाश करने से उत्पन्न होता है। उस ज्ञानरूपी सुधारस (अमृत) को तपस्वी महात्मा ज्ञानरूपी अंजुली से पीते हैं।

निर्विकल्पं समुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत्पिबंति तपस्विनः ॥''

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-२३९ में उपदेश करते हैं कि आत्मज्ञानशून्य जीव के सर्व आगम-ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान तथा संयतत्त्व का युगपतपना भी अकिंचित्कर है :-

''परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥

गाथार्थ :- जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा वर्तती हो तो वह भले ही सर्व आगम का धारी हो, तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।''

अब स्वात्माभिमुख मति (बुद्धि) में कर्म चेतना व कर्मफल चेतना की हेयता बताते हैं :-

अहमेवाहमित्यात्म-ज्ञानादन्यत्र चेतनाम् ।
इदमस्मि करोमीदमिदं भुंज इति क्षिपे ॥१८॥

'मैं ही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से अन्य वस्तुओं में।
यह मैं इसका कर्त्ता-भोक्ता – यह मान्यता तुरन्त तजूँ॥१८॥

अन्वयार्थ :- [**'अहम् एव अहम्' इति आत्मज्ञानात्**] 'मैं ही मैं हूँ' इस आत्मज्ञान से (ऐसे आत्मज्ञान द्वारा) [**अन्यत्र 'इदम्** (अहम्) **अस्मि'**] आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों में 'यह मैं हूँ', [**'इदम्** (अहम्) **करोमि'**] 'यह मैं करता हूँ', (मैं इसका कर्ता हूँ) [**'इदम्** (अहम्) **भुंजे**] 'मैं इसे भोगता हूँ' (मैं इसका भोक्ता हूँ), [**इति चेतनाम् क्षिपे**] ऐसी चेतना को मैं छोड़ता हूँ।

व्याख्या :- जिसकी मति सदा स्वात्माभिमुखी होती है उसे स्वात्मा का संचेतन कैसा होता है – इसे ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बताया है कि प्रज्ञा के द्वारा शेष भावों से भिन्न किया गया जो चेतक है वह मैं ही हूँ और शेष भाव पर हैं। मैं तो शुद्ध चैतन्यमय भाव हूँ, इसप्रकार अपने को चेतयिता के रूप में अनुभव करना चाहिए, प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिये।

जिसने अपने को शुद्ध चैतन्यमय भाव जाना है और शेष सर्व भावों को दूसरों का जाना है – परभाव जाना है वह अन्य किसी भाव में, 'यह मैं हूँ, मैं यह करता हूँ, मैं यह भोगता हूँ' ऐसा वचन कैसे बोलेगा? ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि पर में और अपने में स्व-स्वामी संबन्ध असम्भव है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र भी समयसार कलश-१८५ में यह ही सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं :-

''सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥

अर्थ :- जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ, और जो यह भिन्न लक्षण वाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।''

जो परद्रव्य का ग्रहण करता है वह अपराधी है इसलिए बन्ध में पड़ता है और जो स्वद्रव्य में संवृत्त है ऐसा यति (योगी) निरपराधी है इसलिए बँधता नहीं है।

समाधिशतक श्लोक-५० में आचार्य पूज्यपाद भी कहते हैं -

''आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यारर्थशात्किं चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥

अर्थ :- तत्त्वज्ञानी आत्मज्ञान और आत्मानुभव के सिवाय दूसरे कार्य को, अपने या दूसरे के उपकाररूप प्रयोजन के होने पर उसमें लीन व आसक्त न होता हुआ, वचन और कार्य से कुछ करे तो करे, पर उसे अपनी बुद्धि में बहुत काल तक धारण न रखे अर्थात् आत्मज्ञान के कार्य पर तो बराबर लक्ष्य रखे, पर अन्य कार्यों में किंचित् भी उपादेय बुद्धि न रखे, उन्हें अनासक्त होकर करे।''

जो वचन और शरीर के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते वे उनमें आत्मबुद्धिरूप भ्रान्ति पालते हैं अर्थात् वचन और शरीर को स्वात्मा ही मानते हैं। ज्ञानी पुरुष स्व-आत्मा, शुद्ध निज-आत्मा, वचन और शरीर का जैसा स्वरूप है वैसा जानते व मानते हैं, अतः

वे शरीर व आत्मा को सर्वथा भिन्न-भिन्न जानते हैं और अपने को सदा शुद्ध चैतन्यरूप अनुभव करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-३० में भी ज्ञानी का स्वरूप संचेतन बताते हैं :-

''सर्वतः स्वरसनिर्भर भावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः, शुद्ध चिद्घनमहो निधिरस्मि॥

अर्थ :- यह मैं भेदबुद्धि से रहित शुद्ध चिद्रूप मात्र वस्तु को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आस्वादता हूँ। जो सर्व प्रकार से चैतन्य के निज रस से भरे हुए भाववाला है। मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप उद्योत का समुद्र हूँ, मोह मेरा कुछ नहीं है, नहीं है।''

गुण-गुणी के भेद-विकल्प भी शुभोपयोगरूप है, अतः आगे भेद-विकल्प निवृत्ति और अभेद में प्रवृत्ति का उपदेश देते हैं -

निर्विकल्प स्वसंवेदन की प्रेरणा

अहमेवाहमित्यन्तर्जल्प-संप्रक्त कल्पनाम्।
त्यक्त्वावाग्गोचरं ज्योतिः स्वयं पश्येदनश्वरम्॥१९॥

'मैं ही मैं हूँ'- ऐसे अन्तर्जल्प युक्त कल्पना तजो।
वचन अगोचर अविनश्वर ज्योति आतम को स्वयं लखो॥१९॥

अन्वयार्थ :- [**'अहम् एव अहम्' इति**] 'मैं ही मैं हूँ' – ऐसी [**अंतर्जल्प-संपृक्त-कल्पनाम् त्यक्तवा**] अंतर्जल्प से संयुक्त कल्पना को त्याग कर [**अवाग्गोचरम् अनश्वरम् ज्योतिः**] वचनों से अगोचर व अविनश्वर ज्योति (आत्मा) को [**स्वयं पश्येत्**] स्वयं अवलोकन करना चाहिए।

व्याख्या :- शुद्ध स्वात्मा को परद्रव्यों और परद्रव्यों के भावों से भिन्न करने के बाद आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए पहले मतिज्ञान

तत्त्व को आत्म सन्मुख करके, फिर श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्व को आत्म सन्मुख करते हुए, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, आत्मतत्व सम्बन्धी ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के विकल्पों से भी रहित होकर वचन के अगोचर अखण्ड-प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मरूप निज शुद्ध-आत्मा का अनुभव करना चाहिये। निर्विकल्प स्वसंवेदन में ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है। इस एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम को प्राप्त होता है। इसप्रकार का भाव समयसार गाथा-१४४ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र देव व्यक्त करते हैं।

सर्व बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प रहित अत्यन्त निर्विकल्प होने पर ही निज शुद्धात्मा का अनुभव होता है – यही बात आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की गाथा-८० की टीका में कहते हैं, जो इसप्रकार हैः-

''अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) वे पर्यायें हैं। सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंत में (अरहंत के स्वरूप को ख्याल में लेने पर) जीव तीनों प्रकार युक्त समय को (द्रव्यगुणपर्यायमय निज आत्मा को) अपने मन से जान लेता है (समझ लेता है)। यथा यह 'चेतन (आत्मा) है' – इसप्रकार का अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहने वाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है और एक समय मात्र की मर्यादावाला काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय व्यतिरेक वे पर्यायें हैं – जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गाँठें) हैं।

इसप्रकार त्रैकालिक (आत्मा) को भी एक काल में समझ लेने वाला वह जीव, जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत माना जाता है, उसीप्रकार चिद्विवर्तों का चेतन (द्रव्य) में ही संक्षेपण करके

(सर्व विशेषों को तिरोभूत करके) तथा विशेषण-विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान (अदृश्य) होने से जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार चैतन्य (गुण-पर्याय रूप परिणमन) को चेतन में ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र हार को जाना जाता है, उसी प्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्त्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है।''

समाधितन्त्र छन्द-८५ में आचार्य पूज्यपाद आत्मोपलब्धि हेतु निर्विकल्पपने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं –

''यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥

अर्थ :- अंतरंग में वचन व्यापार को लिये हुए जो अनेक प्रकार की विविध कल्पनाओं की तरंगों का जाल है सो आत्मा के दुःखों का मूल कारण है। उस विविध संकल्प-विकल्परूप कल्पना जाल के नष्ट हो जाने पर ही आत्मा परमपद को प्राप्त होता है।''

मात्र नित्यानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे निज आत्मा को जो जीव नहीं भाता, उस जीव का माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयादिक समस्त विभावरूप बुद्धिप्रसार रोका नहीं जा सकता और वह न रुकने से शुभाशुभ कर्म का संवर (बुद्धिप्रसार का निरोध) नहीं होता; इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थ परम्पराओं का मूल रागादि विकल्प ही हैं।

जिसे निःसंगता (बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित परिणति) और निर्ममता (ममकार-अंहकारादिरूप विकल्प समूह से रहित निर्मोह परिणति) प्रसिद्ध हुई है ऐसा वह जीव शुद्धात्म द्रव्य में विश्रांतिरूप पारमार्थिक सिद्ध-भक्ति करता हुआ स्वसमय प्रवृत्ति की प्रसिद्धि वाला

होता है। उस कारण से वह जीव कर्मबन्ध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

आत्मदर्शन का उपाय

यद्यदुल्लिखति स्वान्तं तत्तदस्वतया त्यजेत्।
तथा विकल्पानुदये दोद्योत्यात्माच्छ चिन्मये ॥२०॥

जिस-जिस में अपनापन अनुभव करे हृदय वह भिन्न लखो।
ये विकल्प फिर उदित न हों तो स्वच्छ चिदातम भासित हो ॥२०॥

अन्वयार्थ :- [**स्वान्तं**] अपना हृदय [**यद् यद्** (स्वतया) **उल्लिखति**] जिस-जिसका आत्मपने ('यह मैं हूँ' – इस रूप में) उल्लेख करता है (कहता है) [**तत् तत् अ-स्वतया त्यजेत्**] उस उस पदार्थ को अ-स्वतया ('यह मैं नहीं हूँ/ये मुझसे भिन्न हैं'– इस रूप से) त्याग देना चाहिए। [**तथा विकल्प-अनुदये**] उस तरह के विकल्पों के उदित न होने पर [**आत्मा अच्छ चिन्मये दोद्योति**] आत्मा स्वच्छ चिन्मय रूप में निरन्तर प्रकाशमान होता है।

व्याख्या :- आत्मा का लक्षण चेतना है। चेतना का व्यापार ज्ञान व दर्शनरूप होता है। ज्ञान व दर्शन का लक्षण स्व-पर प्रकाशकता है। अतः जीव के विकल्पों के अनुसार ज्ञान ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है। आत्मा की स्वच्छत्व शक्ति के कारण ज्ञान ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है, जैसे दर्पण में सहज ही सामने वाली वस्तु के आकार बनते हैं। चूंकि जगत की समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं, इसलिए चेतना दर्शनज्ञानरूपता को नहीं छोड़ती। ज्ञेय सामान्य-विशेषात्मक होने से उन्हें प्रतिभासने वाली चेतना भी सामान्य प्रतिभास (दर्शनरूप) और विशेष प्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होती है। ज्ञेयों को जानने की इस प्रक्रिया में शुद्ध आत्मा सामान्य प्रतिभासरूप है, ज्ञेयों के विशेष – द्रव्य-गुण-पर्याय विशेष प्रतिभासरूप हैं। ज्ञेयलुब्धता और

परद्रव्य व उनके भावों के प्रति राग होने पर उपयोग का विषय ज्ञेय जैसे ज्ञानाकार (ज्ञेय की मुख्यता से कहें तो ज्ञेयाकार) होते हैं, तो उपयोग विशेषों को छोड़कर सामान्य पर एकाग्र नहीं होता।

जब प्रज्ञा के द्वारा पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों से आत्मा ज्ञानी होता है अर्थात् चिन्मात्र भाव को अपना जानता है और शेष सर्व भावों को जो ज्ञान में ज्ञेयाकार परिणमित हो रहे हैं उन्हें पर जानता है; तब चैतन्य से भिन्न लक्षण वाले विविध प्रकार के भाव (जो ज्ञेयाकाररूप ज्ञान की पर्याय में परिणमित हो रहे हैं) वह मेरा स्वभाव नहीं है ऐसा जानकर पर-ज्ञेयाकारों से उपयोग हटकर सर्वथा निर्विकल्प होकर स्वद्रव्य में ही संवृत्त होता है, विशेषों का तिरोभाव व सामान्य का आविर्भाव होता है तो निज शुद्धात्मा सम्यक्तया दिखाई देता है। आत्म दर्शन की यह ही विधि है।

चैतन्यशक्तिमात्र आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-३५ में कहते हैं :-

''सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ।।

अर्थ :- चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से छोड़कर और प्रगटरूप से अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके, भव्यात्मा समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर सुन्दर रीति से प्रवर्तमान ऐसे यह एकमात्र अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।''

ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं भी निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है–

बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों को जानने की जिज्ञासा होने पर ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर, ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है; परन्तु वे ज्ञान की तरंगें ही हैं। वे ज्ञान-तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं, इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञेयरूप है और स्वयं ही अपना जानने वाला होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्रभाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता – इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान में यह ज्ञानमात्रभाव प्रत्यक्ष स्वसंवेदन में जानने में आता है। यह ही आत्म-दर्शन है, इसे ही आत्मा की अनुभूति कहा गया है। आत्मा अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता है, जिसका लक्षण अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन है। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन होने पर तत्काल ही आत्मा के सम्पूर्ण सामर्थ्य का ज्ञान व श्रद्धान उदित होता है। अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय में आत्मा की अनन्त शक्तियों का एकदेश निर्मल परिणमन होता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों का समवेत स्वाद आता है।

परमात्मप्रकाश में आचार्य योगीन्दुदेव आत्मज्ञान की महिमा बताते हुए कहते हैं कि आत्मज्ञान से रहित जो भी ज्ञान है उससे सुख सम्बन्धी कुछ भी कार्य नहीं होता, क्योंकि वीतराग स्वसंवेदन रहित तप शीघ्र ही जीव को दुःख का कारण होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र प्रज्ञा (स्वसंवेदन ज्ञान) के द्वारा आत्मा व बन्ध को छेदकर प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा के ग्रहण की विधि आत्मख्याति टीका के कलश-१८२ में बताते हैं :-

''भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण बलाद्भेतुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।

भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।

श्लोकार्थ :- जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षण (आत्मा का लक्षण – चैतन्य और बंध का लक्षण – रागादि भाव) के बल से भेदकर जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। यदि कारकों के अथवा धर्मों के या गुणों के भेद हों तो भले हों, किन्तु शुद्ध (समस्त विभावों से रहित) विभु[१] ऐसे शुद्ध चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है। इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।''

इसप्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

अब बताते हैं कि निर्विकल्प स्वसंवेदन से सिद्ध हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है :-

आत्मा की विश्वरूपता एवं केवलज्ञानगम्यता

स विश्वरूपोनन्तार्थाकार-प्रसर-भूत्वतः।
सोवाग्दृशामलक्ष्योपि लक्ष्यः केवल-चक्षुषाम् ॥२१॥

आत्मा ज्ञेयाकार अनन्त प्रसार भूमि है, विश्व स्वरूप।
वाणी एवं नेत्र अगोचर, केवल-दृग से ज्ञेय स्वरूप॥२१॥

अन्वयार्थ :- [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**अनन्त-अर्थ–आकार-प्रसर-भूत्वतः**] अनन्त ज्ञेयाकारों के प्रसार की भूमि होने से [**विश्वरूपः**] विश्वरूप है। [**सः वाक्–दृशाम् अलक्ष्यः अपि**] वह (आत्मा) वाणी व आँखों द्वारा अलक्ष्य होने पर भी (दिखाई न देने पर भी) [**केवल-चक्षुषाम् लक्ष्यः**] केवलज्ञान रूपी चक्षु से लक्ष्य (देखने योग्य) है।

---

१. **विभु** – सर्व भावों में व्यापक ऐसा एकभाव।

व्याख्या :- आत्मा चैतन्यज्योति स्वरूप है। ग्रन्थकार ने श्लोक १९-२० में आत्मा के इस ज्ञानस्वभाव को स्वयं अवलोकन करने की प्रेरणा दी है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव विश्वरूप है अर्थात् लोक के अनन्त पदार्थों के आकार (द्रव्य-गुण-पर्याय) इसमें झलकें (प्रतिभासित हों) ऐसा इस ज्ञान का स्वरूप है। इसीलिए ग्रन्थकार ज्ञानज्योति को विश्वरूप कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में केवलज्ञान (सहजज्ञान) को सर्वगत कहा है। लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान में जाने बिना रह जाये इसलिये इसे सर्वगत कहा है। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२७५ में कहते हैं –

''जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिल विकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्न तत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥

अर्थ :- सहज तेजपुंज में त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं, तथापि जिसका एक ही स्वरूप है - चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एक स्वरूप ही है, जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अच्छिन्न तत्त्वोपलब्धि है और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है – ऐसा यह चैतन्य-चमत्कार जयवन्त वर्तता है।''

चैतन्यज्योति का विश्वरूप स्वभाव केवलज्ञान की पर्याय में प्रगट होता है। अर्थात् केवल चक्षु से विश्व के सारे पदार्थ अपने पूर्ण आकार (द्रव्य-गुण-पर्याय) के साथ दृश्यमान होते हैं – प्रतिभासित होते हैं। छद्मस्थों के लिए आत्मा का यह सर्वगत स्वभाव अलक्ष्य-अदृश्य ही है।

प्रवचनसार गाथा-२३ में ज्ञान के सर्वगत स्वभाव को आचार्य

कुन्दकुन्द ने निम्नप्रकार से बताया है :-

''आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

गाथार्थ :- आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है; इसलिए ज्ञान सर्वगत – सर्वव्यापक है।''

ज्ञानदर्शनावरण कर्म का क्षय होते ही लोक व अलोक के विभाग से विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों (स्वरूपों) के पार को प्राप्त करके ज्ञान सबको जानता है और फिर कभी भी सबके जाननेरूप सर्वगतपने से च्युत नहीं होता। इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है। जिनवर सर्वगत हैं, और जगत के सर्व पदार्थ जिनवरगत हैं, क्योंकि जिन (केवली) भगवान ज्ञानमय हैं और वे सब पदार्थ ज्ञान के विषय होने से जिन-भगवान के विषय कहे गये हैं। इसलिए आत्मा भी सर्वगत है।

केवली भगवान के ज्ञान में सर्वद्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। चूंकि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, अतः छद्मस्थ के ज्ञान पर जब तक आवरण है उसका ज्ञान सर्वगत नहीं है। निःशेष आवरण के क्षय के समय ही लोक और अलोक में विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके अच्युत रूप से रहने से ज्ञान सर्वगत है। सर्वज्ञत्व व सर्वदर्शित्व शक्ति आत्मा में सदाकाल विद्यमान है। रत्नत्रय परिणत योगी के भी इन शक्तियों की आंशिक (एकदेश) व्यक्ति प्रगट होती है। ज्ञान से जितना आवरण हटा उतना प्रगट ज्ञान सम्यक् ज्ञान है।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान सर्वगत है, इसलिए आत्मा भी सर्वगत है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ की गाथा-४३ में जीवद्रव्य को विश्वरूप कहा है –

''ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं॥

गाथार्थ :- ज्ञान से ज्ञानी का (आत्मा का) भेद नहीं किया जाता, तथापि ज्ञान अनेक हैं। इसलिए तो ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप (अनेक रूप) कहा है।''

एक द्रव्य सहवर्ती अनन्तगुण और क्रमवर्ती अनंत पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्तरूप वाला होने से एक होने पर भी विश्वरूप भी कहा जाता है।

ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान से पृथक् नहीं है, क्योंकि दोनों एक अस्तित्व (एक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपना) से रचित होने से दोनों में एकद्रव्यपना है। इसलिये द्रव्य विश्वरूप (अनेकरूप) होने से ज्ञान भी विश्वरूप है।

यहाँ ज्ञानज्योति अर्थात् केवलज्ञान ज्योति को विश्वरूप कहा है क्योंकि केवलज्ञान में विश्व के सारे पदार्थ, एक-एक पदार्थ के अनन्त गुण, एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें, युगपत प्रतिभासित होते हैं।

अब प्रश्न है कि जिस चैतन्यज्योति को सर्वगत (विश्वरूप) कहा गया है उसका लक्षण क्या है ? क्योंकि लक्षण द्वारा ही लक्ष्य अन्य से भिन्न भासित होता है।

चैतन्यज्योति का लक्षण

तस्य लक्षणमन्तर्भागुपयोगो ह्यहंतया।
नित्यमन्यतया भाग्भ्यः परेभ्योन्यत्र लक्षणात् ॥२२॥

अहंपने की दृष्टि से अन्तवर्ती उपयोग स्वरूप।
अन्यपने से लक्षित पर के लक्षण से है भिन्न स्वरूप॥२२॥

अन्तर्भाक् - पृथग्भूत अन्तरं भजतीति अन्तर्भाक्
भाग्भ्य - पृथग्भूतेभ्य कथंचित्, **परेभ्यो** - अचेतन द्रव्येभ्य।

अन्वयार्थ :- [**तस्य** (आत्मनः) **लक्षणं हि**] उस (आत्मा) का वास्तविक लक्षण [**अहंतया अन्तर्भाग्-उपयोगः**] अहंपने की दृष्टि से अन्तर्वर्ती उपयोग है। [**नित्यम् अन्यतया**] जो कि नित्य ही अन्यपने से लक्षित [**परेभ्यः भाग्भ्यः अन्यत्र लक्षणात्**] पृथग्भूत पर-पदार्थों के (अचेतन द्रव्यों के) लक्षणों से भिन्न है।

व्याख्या :- चैतन्यज्योति का लक्षण अन्तर्वर्ती उपयोग है। यह लक्षण सदैव अन्यता की दृष्टि से लक्षित होने वाले अचेतन द्रव्यों के लक्षणों से भिन्न है। शेष द्रव्य – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल नाम के द्रव्य अचेतन होने के कारण इस उपयोग लक्षण से रहित हैं।

अन्तर्वर्ती उपयोग का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-३१ में इसप्रकार बताते हैं :-

''इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटित परमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृतः॥

अर्थ :- इसप्रकार भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर सर्व अन्य भावों से जब भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मा रूपी बाग में ही प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।''

आत्मा में रमण करता हुआ उपयेाग अन्तर्वर्ती उपयोग है जो चैतन्यज्योति का लक्षण है। यह उपयोग दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एक रूप होता है। जब सर्व परद्रव्यों तथा उनसे उत्पन्न भावों से आत्मा का भेद जाना तो ज्ञेय ज्ञायक (आत्मा ज्ञायक और ज्ञेयाकार ज्ञेय) भाव मात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट

स्वाद में आने वाले स्वभाव भेद (आत्मा चेतन, अन्य अचेतन) के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति आत्मा निर्मम (निर्ममत्व) हो गया और उसे रमण करने हेतु निज शुद्ध आत्मा ही रह गया। निज शुद्ध आत्मा में रमण करता हुआ उपयोग ही चैतन्यज्योति का लक्षण है, क्योंकि यह उपयोग ही जीव की अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य को, जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करता है।

अन्तर्वर्ती उपयोग में प्रगट हुआ आत्मा कैसा है उसका स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-४१ में प्रगट करते हैं –

''अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥

अर्थ :- जो अनादि है, अनन्त है, अचल है, स्वसंवेद्य है और प्रकट है – ऐसा जो यह चैतन्य अत्यन्त चकचकित - प्रकाशित हो रहा है वह स्वयं ही जीव है।''

रागादिक चिद्विकारों को (शुभ-अशुभ भाव रूप चैतन्य विकारों को) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि ये भी चैतन्य ही हैं। वे चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त न होने से चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्य का अनुभव निराकुल है इसलिए अन्तर्वर्ती उपयोग या निज शुद्धात्मा को विषय करने वाला उपयोग ही निज शुद्धात्मा का लक्षण है। उपयोग का 'अन्तर्वर्ती' विशेषण आत्मा के साथ उसके तादात्म्य का – आत्मभूतता का सूचक है।

तत्त्वार्थसार, अध्याय २ श्लोक-९ में भी आचार्य अमृतचन्द्र जीव का लक्षण बताते हुए कहते हैं :-

''अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम्।
जीवोऽभिव्यंज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः॥

अर्थ :- तादात्म्यभाव को प्राप्त उपयोग ही जीव का लक्षण है। आठ कर्मों से आच्छादित होने पर भी जीव उस उपयोग द्वारा प्रगट होता है – अनुभव में आता है।''

अब प्रश्न है कि - रागादि भी चिद्विकार है, ज्ञान के साथ आत्म प्रदेशों में ही उत्पन्न होते हैं, ऐसी स्थिति में स्व (आत्मा) और पर का भेद कैसे सिद्ध हो?

लक्षणभेद से स्व-पर भेद की सिद्धि

ययोर्लक्षणभेदस्तौ भिन्नौ तोयानलौ यथा।
सोस्ति च स्वात्म-परयोरिति सिद्धात्र युक्तिवाक् ॥२३॥

जल-अग्निवत् भिन्न-भिन्न लक्षण वाले दो भिन्न रहें।
निज-पर के लक्षण हैं भिन्न अबाधित जानो युक्ति से॥२३॥

अन्वयार्थ :- [**ययोः लक्षण-भेदः**] जिन दो पदार्थों में लक्षण-भेद होता है [**तौ भिन्नौ**] वे दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। [**यथा तोय-अनलौ**] जैसे– जल और अग्नि। [**सः च** (लक्षण-भेदः)] और वही लक्षण-भेद [**स्वात्म-परयोः अस्ति**] अपनी आत्मा व पर-पदार्थों में है। [**इति अत्र युक्ति-वाक् सिद्धा**] इस प्रकार यहाँ (यह) युक्ति-वचन सिद्ध है – प्रमाण से अबाधित है।

व्याख्याः- लक्षण भेद से वस्तु भेद होता है, यह युक्ति या न्याय है। स्वात्मा और परद्रव्यों में वैसा ही लक्षण भेद है, जैसा जल व अग्नि में – एक शीतल स्वभाव है तो दूसरा उसके विपरीत उष्ण स्वभाव है, अतः दोनों की भिन्नता युक्ति सिद्ध है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-३९ में इस लक्षण भेद से जीव-अजीव की भिन्नता स्थापित करते हैं :-

''वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु, निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः॥

अर्थ :- अहो ज्ञानीजनो ! ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव हैं उन समस्त को एक पुद्गल की रचना जानो; इसलिये यह भाव पुद्गल ही हों, आत्मा न हों; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, इसलिये वह इन वर्णादिभावों से अन्य ही है।''

पुद्गल मोहकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले रागादिकभाव (मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान) सदा ही अचेतन होने से जीव नहीं हैं, ऐसा स्वतःसिद्ध होता है; क्योंकि उनमें चैतन्यस्वभाव की व्याप्ति नहीं है। गुणस्थान योग्य भावों का अचेतनत्व आगम से सिद्ध होता है।

वे चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्य शून्य हैं – जड़ हैं।

आचार्य योगीन्द्र देव योगसार दूहा-१७ में भी भेदविज्ञान की यही विधि प्रतिपादित करते हैं –

''**मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि।**
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि॥

अर्थ :- केवल व्यवहार नय की दृष्टि से जीव को मार्गणा व गुणस्थान रूप कहा है। निश्चय नय से अपने आत्मा को आत्मा रूप समझ, जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी के पद को पा सके।''

अतः अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा का निरन्तर शुद्ध अनुभव ही आत्मा का अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषण रहित लक्षण सिद्ध होता है। जिनमें यह लक्षण नहीं है वे सब भाव निज शुद्ध आत्मा की अपेक्षा परभाव हैं, और जिन पदार्थों में यह लक्षण नहीं है वे सब पर पदार्थ सिद्ध होते हैं। स्व की दृष्टि से उक्त (अन्तर्वर्ती उपयोग) लक्षण सहित वस्तु निज आत्मा है शेष सब अनात्मा हैं, अजीव तत्व हैं :-

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा २९४-२९७ में नियत स्व लक्षणों से आत्मा और बंध का द्विधाकरण करके शुद्ध आत्मा को

ग्रहण करने व बंध को छोड़ने का उपाय बताते है :-

''जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥२९४॥
जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो॥२९६॥
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥२९७॥

गाथार्थ :- जीव तथा बंध नियत स्व-लक्षणों से छेदे जाते हैं; प्रज्ञारूप छैनी के द्वारा छेदे जाने पर वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

इसप्रकार जीव और बंध अपने निश्चित स्व-लक्षणों से छेदे जाते हैं। वहाँ बंध को छेदना चाहिये अर्थात् छोड़ना चाहिए और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

वह शुद्ध आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय? आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा वह (शुद्ध) आत्मा ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा (आत्मा को) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो चेतने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं, ऐसा जानना चाहिये।''

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं :- **''आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः''**

चैतन्यज्योति का लक्षण अन्तर्वर्ती उपयोग निर्धारित किया गया

है। अब उसका स्वरूप बताते हैं :-

उपयोग का स्वरूप एवं भेद

उपयोगश्चितः स्वार्थ-ग्रहण-व्यापृतिः श्रुतेः ।
शब्दगो दर्शनं ज्ञानमर्थगस्तन्मयः पुमान् ॥२४॥

आतम का व्यापार स्व-पर के ग्रहण रूप, उपयोग कहें।
आत्मा तन्मय ज्ञान अर्थगत और शब्दगत दर्शन है॥२४॥

अन्वयार्थ :- [**चितः स्वार्थ–ग्रहण-व्यापृतिः उपयोगः**] चैतन्यात्मा का स्वार्थ (स्व व अर्थ) के ग्रहणरूप व्यापार ही उपयोग है। [**श्रुतेः शब्दगः दर्शनम्**] श्रुति की दृष्टि से शब्दगत उपयोग दर्शन है। [**अर्थगः ज्ञानम्**] अर्थगत उपयोग ज्ञान है और [**तन्मयः पुमान्**] आत्मा उस उपयोग से तन्मय है।

व्याख्या :- जीव का जो भाव स्व व पर वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत होता है उस भाव या परिणाम को उपयोग कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने उपयोग को जीव का लक्षण बताया है। (**उपयोगो लक्षणम्** – अध्याय-२, सूत्र-८)

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-४० की टीका में उपयोग की निम्न परिभाषा दी गई है :- '**आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणामः उपयोगः।** आत्मा का चैतन्यानुविधायी (चैतन्य का अनुसरण करनेवाला) परिणाम उपयोग है।'

ज्ञानदर्शन रूप उपयोग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित पदार्थ के जाननेरूप – वस्तु के ग्रहणरूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है। शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में उपयोग शब्द से शुभ-अशुभ तथा शुद्ध भावनारूप अनुष्ठान जानना चाहिये।

यहाँ उपयोग का स्वरूप स्व-पर वस्तु के ग्रहणरूप व्यापार की

अपेक्षा से तथा मुख्यत: श्रुति (कर्ण इन्द्रिय के विषय – शब्द) की दृष्टि से बताया गया है।

उपयोग के दो भेद हैं – दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग।

किसी भी पदार्थ को जानने की योग्यता होने पर उस पदार्थ की ओर सम्मुखता, प्रवृत्ति अथवा पूर्व विषय से हटकर विवक्षित पदार्थ की ओर उत्सुक होने रूप चेतना पर्याय को दर्शनोपयोग कहा जाता है। इसप्रकार उपयोग का पदार्थोन्मुख होना 'दर्शनोपयोग' है। विवक्षित पदार्थ को जानने की उत्सुकता चेतना में ही होती है। जब तक विवक्षित पदार्थ को थोड़ा भी नहीं जाना जाता तब तक चेतना का व्यापार दर्शनोपयोग है। जब कोई भी कुछ भी अवलोकन करता है – देखता है तब, जब तक वह उपयोग विकल्प (साकार) नहीं करता तब तक सत्ता मात्र के ग्रहणरूप दर्शन कहलाता है, तत्पश्चात् शुक्ल आदि विकल्प (अर्थों के आकारों का अवभासन) होने पर, ज्ञान कहलाता है। ब्रह्मदेव सूरि (द्रव्यसंग्रह गाथा-४३ की टीका) के शब्दों में **'तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते, पश्चाच्छुक्लादि विकल्पे जाते ज्ञानमिति।'**

आत्मा के उपयोग का पदार्थोन्मुख होना दर्शन है। शब्द और उसके वाच्य अर्थ को ग्रहण करने (जानने) की उत्सुकता होने पर शब्द को ग्रहण करने की ओर उपयोग लगना दर्शनोपयोग है। शब्द और उसके वाच्य सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को ग्रहण करने वाला उपयोग ज्ञानोपयोग है।

दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग की प्रकृति में भेद है। दर्शनोपयोग अनाकार अर्थात् निर्विकल्प होता है। इसीलिये कहा जाता है कि सामान्य रूप से अर्थात् सत्तावलोकन रूप से ग्रहण करना (पदार्थों का आकार ग्रहण न करके अथवा विकल्प न करके) वह परमागम

में दर्शन कहा गया है। यह दर्शन विकल्प रहित है। सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञानोपयोग साकार अथवा सविकल्प होता है। जिस प्रकार पदार्थ होता है उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञात हो उसे आकार कहते हैं।

दर्शन एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् नहीं करता इसलिये उसे निराकार कहते हैं। पदार्थों के भेदाभेद को लिये हुए निश्चयात्मक बोध को आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थों (द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक) को जानना ही आकार है वह ज्ञान का स्वरूप है ।

इसप्रकार पदार्थों के निश्चय कराने वाले जो चैतन्य परिणाम हैं वे ज्ञान कहलाते हैं। साकार का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान स्वयं उस पदार्थ के आकार तुल्य हो जाता है। **(तत्त्वार्थसार)**

छद्मस्थ जीवों को दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ होते हैं। जैसे कि मेघ रहित सूर्य के आतप और प्रकाश युगपद ही होते हैं।

सत्तावलोकन रूप दर्शनोपयोग का उपरोक्त कथन तर्क के अभिप्राय से है। सिद्धान्त के अभिप्राय से दर्शनोपयोग का स्वरूप इसप्रकार है :-

ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा में ही होती है, ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न, उस रूप जो अपने आत्मा का परिच्छेदन – अवलोकन, ग्रहण है वह ज्ञान है; यह वार्तिक है। (द्रव्य संग्रह टीका - गाथा ४४ पृ. २१५) जैसे कोई मनुष्य पहले घट सम्बन्धी विकल्प करता है, तत्पश्चात् कपड़े का ज्ञान करने की इच्छा होने पर वह घट के विकल्प से हटकर (निवृत होकर) जो स्वरूप में प्रयत्न-

अवलोकन-परिच्छेदन करता है, वह दर्शन है। तत्पश्चात 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प करता है वह ज्ञान कहलाता है।

धवला पुस्तक ६ सूत्र १६ की टीका पृ.३३ में भी कहा है :- ''ज्ञान का उत्पादन करने वाले प्रयत्न से सम्बद्ध स्वसंवेदन अर्थात् आत्म विषयक उपयोग को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन में ज्ञान के उत्पादक प्रयत्न की पराधीनता नहीं है।''

कषायपाहुड़ पुस्तक १ पृ. ३०२ पर भी लिखा है :- ''प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं, अर्थात् प्रमाण ज्ञान में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है उसे आकार कहते हैं। वह आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग कहलाता है।''

जब दर्शन द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है तब आत्मा के साथ अविनाभूत ज्ञान का भी (दर्शन द्वारा) ग्रहण हो जाता है और ज्ञान का ग्रहण होने पर ज्ञान के विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है। इसीलिये सामान्य का ग्रहण अर्थात् आत्मा का ग्रहण है, वह दर्शन है।

आत्मा का जो उपयोग सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव आत्म तत्व में परिणतिरूप होता है वह शुद्धोपयोग भूमिका में आरोहण करता है। यह उपयोग चैतन्य परिणाम स्वरूप है। चैतन्य का लक्षण है। इसे ही इस ग्रन्थ में अन्तर्वर्ती उपयोग कहा है। कषाय का परिणमन पराश्रित है, अतः कषाय से अनुरंजित उपयोग पर के आश्रय से परिणमित होने से अशुद्धोपयोग है। जो उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणत आत्मा रूपी बाग में ही प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता वह अन्तर्वर्ती उपयोग है जो उस

चैतन्यज्योति का लक्षण है। वह चैतन्य परिणति दर्शन-ज्ञानोपयोगरूप होकर निज शुद्धात्मा में तन्मय होती है।

यह अन्तर्वर्ती उपयोग ही आत्मशुद्धि का साधन है।

''अन्तर्वर्त्ती उपयोग दर्शन व ज्ञान रूप होकर परिणमन करता है। पहले तो कुछ काल तक द्रव्यश्रुत वितर्कपना रूप भाव रहता है। वितर्क अर्थात् द्रव्य का वाचक शब्द (शब्द वाचक और अर्थ वाच्य)। 'अहं ब्रह्म' 'अहं अस्मि' ऐसी ब्रह्मप्रतीति की भावना में स्थिरता होती है। पश्चात् समाधि में अहंपना तो छूटे और 'अस्मि अर्थात् हूँ' ऐसा भाव रहे, वहाँ दर्शन-ज्ञानमय हूँ, मैं समाधि में लगता हूँ ऐसे 'मैं' का रहना भी विचार है (विकल्प है)। फिर द्रव्यश्रुत वितर्कपना मिटकर स्वरूप में एकत्व हुआ, एकतान रसरूप में मन लीन होकर समाधि लगी, वहाँ विचार भेद मिटा। वीतरागरूप अनुभव – स्वसंवेदन भाव हुआ – उपयोग अन्तर्वर्ती होकर परिणमित हुआ। एकत्व चेतना में मन लगा, लीन हुआ, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्द का अभाव होने से स्वभाव दर्शन (स्वभाव ज्ञान) का रसास्वाद करने से आनन्द में वृद्धि हुई, वहाँ जो 'अस्मि भाव' ज्ञानज्योति में था वह भी थका (अटका, शांत हुआ) वहाँ अनन्तगुण के रस को पुनः परिणाम में वेदन कर समाधि लगी। निर्विकार धर्म का विलास – प्रकाश हुआ।''

(पं. दीपचन्दजी, अनुभव प्रकाश पृ. ८८-८९)

द्रव्यश्रुत के अवलम्बन में उपयोग पहले कर्ण या मन के आश्रय से परिणमित होता है। जब उपयोग शब्दादि को जानने से हट गया और विकल्प देखने-जानने में रुका तो वह उपयोग मन संज्ञा को प्राप्त हुआ। जब उपयोग इन विकल्पों को देखने-जानने से भी रुक गया तब वह मनातीत हो गया।

मनातीत उपयोग अथवा भावश्रुत ज्ञानोपयोग सर्व एक स्वयं ही

को – स्वयं चित्वस्तुरूप व्याप्य-व्यापक रूप से प्रत्यक्ष आप ही को देखने-जानने लगे, तब वे उपयोग-परिणाम मन-इन्द्रियभाव से शून्य हो गये। अब चपलता रहित चारित्र परिणाम भी मन-इन्द्रिय संज्ञातीत हो गये। उन्हीं चारित्र-परिणामों से निज का स्वाद उत्पन्न होता है।

इसप्रकार अन्तर्वर्ती उपयोग को प्राप्त योगी सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप परिणति को ग्रहण करता है।

अब प्रश्न है कि अन्तर्वर्ती उपयोग आत्मा को किस विधि से शुद्ध करता है?

आत्मशुद्धि का मार्ग - शुद्धोपयोग

अमुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं च यः स्वयम्।
शुद्धे निधत्ते स्वे शुद्धमुपयोगं स शुद्ध्यति ॥२५॥

स्वयं नहीं होता जो मोही और न रागी-द्वेषी हो।
निज शुद्धात्मा में ही धरता उपयोग वही हो शुद्ध अहो॥२५॥

अन्वयार्थ :- [**यः स्वयम्**] जो (ध्यानी पुरुष) स्वयं [**अमुह्यन्तं**] मोहित न होता हुआ [**अरज्यन्तम्**] रागी न होता हुआ [**अद्विषन्तं च**] और द्वेषी न होता हुआ [**शुद्धे स्वे**] अपनी शुद्धात्मा में [**शुद्धम् उपयोगम् निधत्त**] शुद्ध उपयोग को धारण करता है, [**सः शुद्ध्यति**] वह शुद्ध हो जाता है।

व्याख्या :- इस ग्रन्थ का मूल प्रयोजन आत्मशुद्धि की विधि बतलाना है। आत्मा की शुद्धि शुद्धोपयोग से होती है। राग-द्वेष-मोह से रहित उपयोग जब केवल निज शुद्धात्मा को विषय करता है, वह शुद्धोपयोग है वह ही आत्म शुद्धि की प्रगटता, शुद्धि की वृद्धि और शुद्धि की पूर्णता का साधन है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नियत निश्चित स्व लक्षणों से पर-भावों से भिन्न कर उसमें उपयोग एकाग्र

करने से आत्मा की शुद्धि होती है। इस अन्तर्वर्ती उपयोग को ही श्लोक-२२ में चैतन्यज्योति का लक्षण बताया गया है।

आचार्य कुन्दकुद ने आत्मा की शुद्धि का मार्ग समयसार की गाथा-१८६ में इसप्रकार बताया है –

''सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥

अर्थ :- शुद्ध आत्मा को जानता हुआ (अनुभव करता हुआ) जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता हुआ-जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।''

जो सदा ही अच्छिनधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय से – नये कर्मों के आस्रव का निमित्त जो राग-द्वेष-मोह की संतति (परम्परा) उसका निरोध होने से, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। उसके राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव वर्तमान पर्याय में रुकते हैं और नये कर्म बंध का निरोध होने से राग-द्वेष-मोह की संतति क्षीण होती जाती है। जैसे-जैसे भावास्रव क्षीण होता जाता है आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होता हुआ पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करता है।

अखण्ड धारावाही ज्ञान से आत्मा का अनुभव दो प्रकार से कहा जाता है, एक तो जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है। प्रथम प्रकार से आत्मा के अनुभव को शुद्ध परिणति व दूसरे प्रकार से आत्मा के अनुभव को शुद्धोपयोग या शुद्धात्म भावना कहा गया है। शुद्ध परिणति के बल से अशुद्धता क्षीण होती है व शुद्धता बढ़ती

है परन्तु इसमें आत्मा को पूर्ण शुद्धता की प्रगटता हो जावे ऐसी सामर्थ्य नहीं होती। शुद्धोपयोगरूप आत्मा का अनुभव आत्मा में शुद्धता को तीव्रगति से बढ़ाता है, अशुद्धता को तेजी से घटाता है और इसके बल से पूर्ण शुद्धता प्राप्त हो जाती है। पूर्ण शुद्धता के लिए उपयोग का निज शुद्ध आत्मा में अर्थात् ज्ञान का ज्ञान में अखण्ड धारावाहीरूप से स्थिर रहना आवश्यक है।

अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत (४ से ६) गुणस्थानों में मुख्यत: प्रथम प्रकार का आत्मानुभव (शुद्ध परिणति) होता है और ७ वें व ऊपर के गुणस्थानों में दूसरे प्रकार का आत्मानुभव (शुद्धोपयोग) होता है। श्रेणी चढ़ने वाले जीव को मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू पड़ती है, क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध-आत्मा में ही उपयुक्त रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा व कर्म को यथार्थतया भिन्न जानकर शुद्ध आत्मा के अनुभव को भेदविज्ञान कहते हैं और समयसार आत्मख्याति कलश-१३१ में भेदविज्ञान को ही आत्मा की शुद्धि का एकमात्र उपाय बताते हैं –

''भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा: ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थ :- जो कोई सिद्ध (पूर्ण शुद्ध आत्मा) हुए हैं वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए है; और जो कोई बंधे हैं वे उसी के अभाव से बंधे हैं।''

आचार्य योगीन्दुदेव भी योगसार दूहा-३३ व ३४ में भी यही कहते हैं –

''वउतउसंजमुसील निय इय सव्वइ ववहारू।
मोक्खह कारण एक्क मुणि तो तइलोयहु सारू॥

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ॥

अर्थ :- हे जीव ! व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र है; मोक्ष का कारण एक निश्चय-चारित्र जानो जो तीन लोक में सार वस्तु है। जो परभाव को छोड़ देता है व जो अपने से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है वही मोक्ष नगर में पहुँच जाता है – ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।''

आचार्य पूज्यपाद समाधितंत्र श्लोक-३५ में कहते हैं :-

''रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः॥

अर्थ :- जिसका मनरूपी जल राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगों से चंचल नहीं होता, वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता – अनुभव करता है। उस आत्मतत्त्व को दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलित-चित्त मनुष्य नहीं देख सकता।''

जिसका मन-राग-द्वेषादि विकल्प तरंगों से रहित होता है, वह आत्मतत्त्व को अर्थात् परमात्मस्वरूप निज आत्मा को अनुभवता है। वस्तु स्वरूप समझकर उपयोग अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के सम्मुख होने पर रागादि विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं। उनको शान्त करने का आत्मसन्मुखता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। राग-द्वेषादि तरंगों से जब मन आकुलित या चंचल नहीं होता तब निर्विकल्प दशा प्रगट होकर परमात्मतत्त्व अथवा अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। अनिर्वचनीय आनन्द-शान्ति का अनुभव होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२६७ में ज्ञाननय व क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री को आत्मशुद्धि का मार्ग स्थापित करते हैं–

''स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री,
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥

अर्थ :- द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप आत्मवस्तु जिसप्रकार है, उस प्रकार से अंगीकार (विपरीतपना से रहित) करके जीव के शुद्ध स्वरूप को निरन्तर अखण्ड धाराप्रवाहरूप अनुभवना ज्ञाननय है। समस्त रागादि अशुद्ध परिणति का त्याग क्रियानय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव रागादि अशुद्ध परिणाम के त्याग बिना नहीं होता और रागादि अशुद्ध परिणति का विनाश शुद्ध स्वरूप के अनुभव को लिए हुए है। ऐसा अत्यन्त मित्रपना है। ज्ञाननय-क्रियानय एक स्थानक है – एक ही पर्याय में हैं। इसी जाति का जीव प्रत्यक्ष शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप परिणमने का पात्र है। ऐसे जीव को जीव पदार्थ सकल कर्म का विनाश कर प्रगट होता है अर्थात् वह अनन्त चतुष्टयरूप होता है।''

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१९६ में कहते हैं कि एकाग्रसंचेतन जिसका लक्षण है ऐसा ध्यान अशुद्धता का निरोध करता हुआ अत्यन्त विशुद्धि करता है :-

''जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरूंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा॥

गाथार्थ :- जो मोहमल का क्षय करके, विषय से विरक्त होकर मन का निरोध करके स्वभाव में समवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है।''

विषय विरक्तता होने पर मन को आत्म द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई शरण न रहने से, चंचलता का विलय होने से अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभाव से समवस्थान (दृढ़तया टिकना) होता है। ऐसे

स्वरूप में प्रवर्तमान अनाकुल एकाग्रसंचेतनरूप ध्यान से आत्मा अत्यन्त विशुद्ध होता हुआ प्रगट होता है।

अब बताते है कि अन्तर्वर्ती उपयोग से आत्मा में अशुद्धि का निरोध व विनाश दोनों कार्य होते हैं :-

रागादिक अशुद्धि के विनाश का उपाय

भावयेच्छुद्धचिद्रूपं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः ।
रागाद्युदग्र-शत्रूणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च ॥२६॥

रागादिक अति उग्र शत्रु की अनुत्पत्ति एवं क्षय हेतु।
शुद्ध चिदानन्द निज आत्मा की सदा भावना है कर्त्तव्य॥२६॥

अन्वयार्थः- [**रागादि-उदग्र-शत्रूणाम्**] अति उग्र रागादि शत्रुओं की [**अनुत्पत्यै क्षयाय च**] अनुत्पत्ति (उत्पत्ति न होना) तथा विनाश के लिए [**नित्यम् उद्यतः सन्**] नित्य उद्यत होते हुए [**शुद्ध-चिद्रूपं स्व-आत्मानम् भावयेत्**] शुद्ध-चिद्रूप अपनी आत्मा की भावना करनी चाहिए।

व्याख्या :- रागादि विकारी भाव आत्मा के अति उग्र शत्रु हैं। शुभ-अशुभ क्रिया, सूक्ष्म-स्थूल अन्तर्जल्प-बहिर्जल्परूप जितना विकल्परूप आचरण है वह वर्जन करने योग्य है; क्योंकि जीव का शुद्धरूप परिणमन में ये रागादि घातक हैं। शुभ-अशुभ क्रियारूप व्यवहार चारित्र भी होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है इसलिए अनिष्ट विषय-कषाय के समान तजनीय है, उपादेय नहीं है। यह 'मोक्ष हेतु निरोधायी' अर्थात् मोक्ष के हेतु शुद्धचेतनारूप परिणमन उसका घातनशील है। शुद्ध ज्ञान और आस्रवभाव का परस्पर विरोध है।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-७२ में कहते हैं –

''णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥

अर्थ :- आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता तथा वे दुःख के कारण हैं – ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।''

शुभ-अशुभ भाव आकुलता के उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए दुःख के कारण हैं। ये आत्मा के निराकुल स्वभाव में मैलरूप (विकार रूप) अनुभव में आते हैं। इनका अभाव होने पर ही आत्मा का पूर्ण शुद्धरूप पर्याय में प्रगट अनुभव में आता है, इसीलिए उन्हें उग्र शत्रु कहा गया है। जब तक विकल्पों की कल्लोलें चलती हैं जीव अपने चैतन्य-मात्र स्वभाव का अनुभव नहीं कर सकता।

जीव के शुद्धभावरूप परिणमने पर अशुद्ध भाव अवश्य ही मिटता है। अशुद्ध भाव के मिटने पर अवश्य ही द्रव्यकर्मरूप आस्रव मिटता है। शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की नित्य ही उद्यमी होकर भावना करने से रागादि का अभाव होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने रागादि आस्रव भाव तथा जीव में, वृक्ष और लाख की भांति वध्य-घातक स्वभाव बताया है। जैसे लाख घातक है और वृक्ष वध्य – घात होने योग्य है, वैसे ही शुभ-अशुभ भाव लाख के समान घातक हैं और आत्मा वृक्ष समान वध्य है। रागादि भाव आत्मा के उग्र शत्रु कैसे हैं? यही समयसार गाथा-७४ में भी कहा है :-

''जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं॥

अर्थ :- यह आस्रव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं तथा अशरण हैं और दुःख रूप हैं, दुःख ही जिनका फल है ऐसे हैं – ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।''

रागादि आस्रव भावों के विनाश का (क्षय का) उपाय शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की भावना को बताया है। शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की

भावना का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-७३ में निम्न प्रकार से बताते हैं :-

''अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसण समग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि॥

अर्थ :- ज्ञानी विचार करता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ। उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें लीन होता हुआ मैं इन क्रोधादि सर्व आस्रवों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।''

निश्चयनय से मैं स्वसंवेदन ज्ञान प्रत्यक्ष शुद्ध चिन्मात्र ज्योति हूँ। अनादि-अनन्त, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव वाला होने से मैं एक हूँ। स्पष्टरूप से कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण षट्कारकरूप विकल्पचक्र से रहित होने के कारण मैं शुद्ध हूँ। निर्मोह स्वरूप शुद्धात्मतत्त्व से भिन्न, मोह के उदय से उत्पन्न क्रोधादि कषाय के स्वामीपने के अभाव के कारण ममत्व रहित हूँ। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। इसप्रकार के गुण-विशिष्ट पदार्थ विशेष मैं हूँ। उस कथित लक्षणरूप शुद्धात्म स्वरूप में मैं स्थित हूँ। सहजानन्द एक लक्षणवाले सुखरूप समरसी भाव से तन्मय होकर निरास्रव परमार्थ पदार्थ से भिन्न मैं इन सभी क्रोधादि भावों के विनाश को प्राप्त होता हूँ।

इसप्रकार शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा का उद्यमी होकर नित्य भावना करता हुआ अर्थात् निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा का अवलम्बन लेता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ वह आत्मा रागादि भावों से निवृत्त होता है – उनका क्षय करके दुःख की संतति का अभाव करता है।

आचार्य योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश दूहा-३१२ में कहते हैं कि परम समाधि से भावमल का विलय होता है।

''परम-समाहि-महासरहिं जे बुड्डहिं पइसेवि।
अप्पा थक्कइ विमलु तह भव मल जंति वहेवि॥

अर्थ :- जो परमसमाधि रूपी महासर में प्रवेश कर डूब जाते हैं, जो विमल आत्मा में लीन हो जाते हैं उनके भावमल बहकर नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विकल्पों का विलय ही परमसमाधि है।''

शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की भावना और रागादि आस्रव भावों की निवृत्ति का स्वरूप इसप्रकार है कि ज्यों-ज्यों शुद्धात्म-भावना बढ़ती है अर्थात् जीव विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों रागादि भावों से निवृत्त होता जाता है। ज्यों-ज्यों रागादि आस्रव भावों से निवृत्त होता जाता है त्यों-त्यों विज्ञानघन स्वभाव (शुद्धता की वृद्धि) होता जाता है। ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है। जितना आस्रवों से निवृत्त होता है उतना सम्यक् प्रकार से विज्ञानघन स्वभाव होता है। इसप्रकार ज्ञान का (शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि) व रागादि से निवृति (क्षय) का समकाल है।

जिस-जिस प्रकार जितने-जितने अंश में आत्मा विज्ञानघन स्वभाव (पर्याय में शुद्धि) होता है उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंश में वह रागादि आस्रवभावों से निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव होता है तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है।

विज्ञानघन स्वभाव होना अर्थात् आत्मा का ज्ञान में स्थित होना। विज्ञान अर्थात् ज्ञान का स्थिर – घन होना ही रागादि की सन्तति के विनाश का उपाय है।

समाधितंत्र ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद श्लोक-३९ में रागद्वेषादिक को शान्त करने का उपाय इसप्रकार बताते हैं :-

''यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥

अर्थ :- जिस समय किसी तपस्वी अन्तरात्मा के मोहनीय कर्म के उदय से राग और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, उसी समय उस तपस्वी द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप की भावना से वे राग-द्वेषादिक क्षणभर में शान्त हो जाते हैं।''

रागद्वेषादि के शमन के लिए शुद्धात्मा की भावना ही एक मात्र उपाय है।

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१६६ में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं कि उत्कृष्टतम शुभभाव भी कर्मक्षय नहीं करते :-

''अरहंतसिद्धचेदिय पवयणगण णाण भत्ति संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थ :- अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (अर्हंतादि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।''

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१६९ की समयव्याख्या टीका कहते हैं कि –

''राग के सद्भाव के कारण ऐसा जीव अपने को चित्त के भ्रमण रहित नहीं रख सकता, चित्त-भ्रमण होने से उसे शुभाशुभ कर्म का निरोध नहीं है। चित्त के भ्रमण से कर्म बन्ध होता है। इसलिये मोक्षार्थी जीव को कर्म बंध का मूल ऐसा जो चित्त का भ्रमण उसके मूलभूत रागादि परिणति का एकान्त से निःशेष नाश करने योग्य है। शुद्धात्म द्रव्य में विश्रांतिरूप पारमार्थिक सिद्ध-भक्ति धारण करने वाला आत्मा स्वसमय प्रवृति (अन्तर्वर्ती उपयोग) की प्रसिद्धि वाला होता है। उस

कारण से वह जीव कर्मबंध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।''

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१७० में भी आचार्य मोक्षार्थी के लिए परसमय प्रवृत्ति को निःशेषरूप से छोड़ने योग्य बताते हैं :-

''सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ।।

अर्थ :- संयम, तप संयुक्त होने पर भी नव पदार्थों तथा तीर्थंकरों के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर (विशेष दूर) है।''

साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागपना है। इसलिये मोक्षाभिलाषी महाजन सब ओर से राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, शुद्धस्वरूप परमामृत समुद्र को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

जिन रागादि को आत्मा का उग्र शत्रु कहा गया है, अब उनका स्वरूप बताते हैं :-

अशुद्धि के भेद (मोह-राग-द्वेष)

रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पंचधा।
मिथ्यात्वभेदयुक् सोपि मोहो द्वेषः क्रुधादि षट् ॥२७॥

प्रेम लोभ रति माया एवं हास्य राग है पाँच तरह।
हों मिथ्यात्व सहित तब ये ही मोह, द्वेष क्रोधादिक छह ॥२७॥

अन्वयार्थ :- [**रागः पञ्चधा – प्रेम, रति, माया, लोभं, हास्यम् च**] राग पांच प्रकार का है – प्रेम, रति, माया, लोभ और हास्य। [**सः अपि मिथ्यात्व-भेद-युक् मोहः**] वह राग ही मिथ्यात्व

के भेदों से युक्त होने पर मोह कहलाता है। [**द्वेषः क्रुधादि षट्** (विधा)] और द्वेष क्रोधादि छह प्रकार का है।

प्रेम (त्रिवेदरूप परिणति) रति, माया, लोभ और हास्य के भेद से राग पांच प्रकार का है। उसमें दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्व-भेद से युक्त वही राग – मोह कहलाता है। उसी प्रकार क्रोधादि के भेद से द्वेष छह प्रकार का है।

व्याख्या :- श्लोक-२६ में राग-द्वेष-मोह को आत्मा का शत्रु कहा गया है। आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने धवला (पुस्तक-१२) में कहा है – ''क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व इनके समूह का नाम मोह है।''

यहाँ राग के पांच भेद बताये गये हैं :- (१) प्रेम (तीन प्रकार के वेद परिणाम) (२) रति (३) माया (४) लोभ (५) हास्य।

इसी प्रकार द्वेष के छह भेद बताये हैं :- (१) क्रोध (२) मान (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (ग्लानि)।

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व भाव से युक्त राग को मोह कहा गया है।

मोह शब्द का प्रयोग विभाव भावों के समस्त समूह के लिए भी होता है (धवला)। कहीं पर अकेले मिथ्यात्व को भी मोह कहा जाता है। पंचास्तिकाय की तत्वप्रदीपिका टीका में **'दर्शनमोहनीय विपाक कलुष परिणमता मोहः'** दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम होता है वह मोह है। प्रवचनसार (तात्पर्यवृत्ति) में भी शुद्धात्म श्रद्धानरूप सम्यक्त्व के विनाशक दर्शनमोह को मोह कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द मोह-राग-द्वेष का स्वरूप व सम्बन्ध प्रवचनसार

गाथा-८३ में निम्नप्रकार कहते हैं :-

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥

अर्थ :- जीव के द्रव्यादि (द्रव्य-गुण-पर्याय) सम्बन्धी मूढ़ भाव (मूढ़तारूप परिणाम) वह मोह है। उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है।

मूढ़भाव अर्थात् वस्तुस्वरूप का अज्ञान – '**तत्त्व अप्रतिपत्ति-लक्षण मूढ़भाव:**' मोहरूप, रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव के विविध बंध होता है, इसलिए वे (मोह-राग-द्वेष) सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य हैं। – प्रवचनसार गाथा-८४

मोह (मिथ्यात्वभाव) से निजरूप आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्व-द्रव्यरूप से, परगुण को स्व-गुणरूप से और परपर्यायों को स्व-पर्यायरूप समझ कर – अंगीकार करके, अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियों की रुचि के वश से, इन्द्रिय विषय जिनमें द्वैत नहीं है, उनमें मोहाच्छादित जीव – 'यह अच्छे हैं, यह बुरे हैं' इसप्रकार का द्वैत उत्पन्न करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अत्यंत क्षोभ को प्राप्त होता है।

''पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से विपरीत मान्यता तथा तिर्यंचों और मनुष्यों के प्रति तन्मयता से करुणाभाव – ये दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के चिन्ह हैं। इष्ट विषयों में प्रीति राग का चिन्ह है और अनिष्ट विषयों में अप्रीति द्वेष का चिन्ह है। इन तीनों चिन्हों से तीनों प्रकार के मोह को पहिचानकर मुमुक्षुओं को उसे तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिये।''

– प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा-८५

दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति – इन तीन प्रकृतियों मे से मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व भाव से युक्त राग को मोह कहा गया है। जहाँ मोह-राग-द्वेष शब्द प्रयोग किये जाते हैं वहाँ मोह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिये। राग-द्वेष और मोह इन तीन भेदों में वे सब विकारी भाव समाविष्ट हो जाते हैं जिनके होने में मोहनीय कर्म का उदय निमित्त बनता है। ये ही भाव आत्मोपलब्धि को – आत्मविकास को रोकते हैं।

मोह-राग-द्वेषरूप जीव के परिणामों को शुभभाव (पुण्यभाव) और अशुभभाव (पापभाव) में वर्गीकृत किया गया है।

जीव के शुभभाव के तीन प्रकार हैं :– प्रशस्तराग, अनुकम्पा और चित्तप्रसाद।

(१.) अरहंत, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, व्यवहार-चारित्ररूप अनुष्ठान में भावप्रधान चेष्टा व आचार्यादि गुरुओं के प्रति रसिकतारूप अनुगमन वह प्रशस्त राग है क्योंकि इनका विषय प्रशस्तरूप है।

(२.) किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देख करुणा से उसके प्रतिकार की इच्छा से चित्त में होने वाली व्याकुलता अनुकम्पा है। नीचे के गुणस्थानों में विद्यमान ज्ञानियों को भवार्णव में निमग्न जगत को देखकर मन में किंचित् खेद होता है, तब मन्द पुरुषार्थ की स्थिति में यथासंभव उसके प्रतिकार का भाव भी अनुकम्पा है।

(३.) क्रोध, मान, माया और लोभ के मंद उदय से होनेवाली तीव्र उदयगत क्षोभरूप-कलुषता के नहीं होनेरूप चित्त की प्रसन्नता चित्तप्रसाद है। (पंचास्तिकाय-समयव्याख्या, गाथा-१३५-१३८)

जीव के अशुभभाव के सात प्रकार हैं :-

(१) तीव्रमोह से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ।

(२) तीव्र कषाय से रंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण, नील, कापोत ऐसी तीन लेश्याएँ।

(३) राग-द्वेष की वृद्धि से प्रिय के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से मुक्ति की व निदान – विषयों की इच्छारूप आर्तध्यान।

(४) राग-द्वेष के उग्र उदय से इन्द्रियाधीनत्व।

(५) कषाय द्वारा निर्दयी-क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द और विकार संरक्षणानन्द रूप रौद्रध्यान।

(६) प्रयोजन बिना अशुभ कार्य से जुड़ा ज्ञान।

(७) सामान्यरूप से दर्शन-मोहनीय व चारित्र-मोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह। (पंचास्तिकाय-समयव्याख्या, गाथा-१४०)

अब प्रश्न है कि राग-द्वेष समूल नाश करने योग्य क्यों हैं?

मोह-राग-द्वेष का स्वरूप एवं फल

सर्वत्रार्थादुपेक्ष्येपि इदं मे हितमित्यधीः।
गृह्णन् प्रीयेऽहितमिति श्रयन् दूयेत्र कर्मभिः ॥ २८॥

है सब द्रव्य उपेक्षणीय पर इष्ट बुद्धि से ग्रहण करें।
हों प्रसन्न अरु अहित कल्पना करके जग में दुःखी रहें॥२८॥

अन्वयार्थ :- [**अर्थात् सर्वत्र उपेक्ष्ये अपि**] वस्तुत सर्वत्र उपेक्षा योग्य होनेपर भी [**'इदम् मे हितम्' इत्यधीः** (इति अधीः)] 'ये मेरे लिए हितकर हैं' –ऐसी बुद्धिवाला अज्ञानी जीव [(इष्ट)- **पदार्थान् गृह्णन्**] (इष्ट) पदार्थों को ग्रहण करता हुआ [प्रीये] प्रसन्न होता है। [(इदम् च मे) **अहितम्' इति श्रयन्**] और 'यह मेरे लिए अहितकर

है' – ऐसा समझता हुआ [**अत्र कर्मभिः दूये**] इस संसार में कर्मों से दुखी होता है अर्थात् सर्व उपेक्षा-योग्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके दुख भोगता है।

व्याख्या :- राग और द्वेष दोनों बन्ध के कारण होने से मुमुक्षुओं द्वारा सदा उपेक्षा किये जाने अर्थात् त्यागने योग्य हैं। दर्शनमोह के मिथ्यात्व भेद युक्त राग के कारण अज्ञानी जीव पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके किसी में राग और किसी में द्वेष धारण करते हैं। राग-द्वेष के फल में अनेक प्रकार के कर्मों से बँध कर दुःखी होते हैं। कर्मवश प्रवृत्ति करते हुए दुःख का ही अनुभव करते हैं।

आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश में राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति का फल श्लोक-११ में इसप्रकार बताते हैंः-

''राग-द्वेष-द्वयी-दीर्घनेत्राऽऽकर्षण- कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥

अर्थ :- यह जीव अज्ञान से राग-द्वेषरूपी लम्बी डोरियों की खींचतानरूप कार्य से संसार-समुद्र में बहुत लम्बे काल तक घूमता रहता है – भ्रमता रहता है।''

इस लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि देवों ने मंदराचल पर्वत को मंथनदण्ड बनाकर दो रस्सियों से उसकी खींचतान करके समुद्र का मंथन किया, वैसे ही जीव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव रूप पंच परावर्तनरूप संसार-समुद्र में अज्ञानजनित राग-द्वेषरूप रस्सियों की खींचतान की क्रिया से अनादिकाल से घूमता रहा है।

अज्ञान के कारण अर्थात् देहादिक पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि के कारण पर-पदार्थों में ही स्व-पर का विभाग जन्म लेता है। पर-पदार्थों में ही स्व-पर के विभाग के कारण राग-द्वेष होता है। स्व में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव होता है। जहाँ राग अपना पैर

जमाता है वहाँ द्वेष अवश्य ही होता है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति शक्तिरूप तथा व्यक्तिरूप सदा एक साथ होती है। यह बतलाने के लिए उन दोनों का (राग-द्वेष का) एक साथ ग्रहण किया है।

यद्यपि कोई भी वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं है तथापि अज्ञान के कारण यह अज्ञानी जीव पर-पदार्थों में स्व-पर का विभाग करता है, फिर पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना कर उनके भी दो विभाग कर लेता है। जिस वस्तु या भाव में इष्टपने की कल्पना करता है उसमें राग करता है और जो अनिष्ट लगती है उसमें द्वेष करता है। राग-द्वेष से चित विह्वल रहता है और चंचल बना रहता है। चित्त की चंचलता से मोहनीय कर्म के उदय जनित वे सभी दोष पैदा होते हैं जो इसी ग्रंथ के श्लोक-२७ में बताये गये हैं।

मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से कर्मबंध होता है। कर्मबंध से गति प्राप्त होती है। गति प्राप्त जीव के देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है और विषय ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इसप्रकार इन भावों के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी है।

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१२८ में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी लिखा है–

''जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी॥

अर्थ :- वस्तुतः जो संसार स्थित जीव है, उससे (अनादि बंधनरूप उपाधि के वश से) परिणाम (राग-द्वेष) होते हैं, परिणामों से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है।''

इस राग-द्वेष प्रेरित संसार चक्र का वर्णन आचार्य नागसेन ने तत्त्वानुशासन ग्रन्थ के श्लोक १६ से १९ तक इसप्रकार किया है –

''मिथ्याज्ञान के साथ होनेवाले मिथ्यादर्शन से ममकार और

अहंकार उत्पन्न होते हैं तथा ममकार और अहंकार से इस जीव के राग-द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेष से कषाय और नोकषाय में जीव तन्मय होता है। उससे योगों (मन-वचन-काय) की प्रवृत्ति होती है। योगों की प्रवृत्ति से हिंसादि महापाप उत्पन्न होते हैं। इन पापों से कर्मों का बँध होता है। बँधे हुए कर्मों के उदय से सुगति तथा दुर्गति प्राप्त होती है, गति से शरीर उत्पन्न होता है और इन्द्रियाँ प्रगट होती हैं। इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता हुआ जीव मोहित होता है, द्वेष करता है और राग करता है। मोहित होने व राग-द्वेष करने से इस जीव के फिर कर्मों का बंध होता है। इसप्रकार मोह के व्यूह में प्राप्त हुआ जीव सदा परिभ्रमण करता है।''

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय संग्रह में मोक्षमार्ग के सार रूप में गाथा-१७२ की रचना की है –

''तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थं कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि॥

अर्थ :- इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करो, ऐसा करने से वह भव्यजीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है।''

अब राग-द्वेष की जननी अविद्या (अज्ञान) का स्वरूप व उसके छेदने का उपाय बताते हैं :-

इन्द्रिय विषयों में सुख-दुःख की कल्पना अविद्या है

बन्धतः सुगतौस्वार्थैः सुखाय दुर्गतौ मुहुः।
दुःखाय चेत्यविद्यैव मोहाच्छेद्याद्य विद्यया ॥२९॥

इन्द्रिय सुख शुभगति में एवं दुर्गति में दुःख होता है।
यही अविद्या मोह-जन्य, जो विद्या द्वारा छेद्य कहें॥२९॥

अन्वयार्थ :- [**बन्धतः**] कर्मबन्ध के कारण [**सुगतौ खार्थै सुखाय**] सुगति में इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है [**च**] तथा [**दुर्गतौ मुहुः दुःखाय**] दुर्गति में (नीच गतियों में) बहुत दुख होता है, [**मोहात् इति अविद्या एव**] मोह से उत्पन्न ऐसी बुद्धि अविद्या ही है, जो [**अद्य विद्यया छेद्या**] आज विद्या से छेदने योग्य है (नाश करने योग्य है)।

व्याख्या :- इस श्लोक में अविद्या का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन्द्रिय विषयों के लाभ को सुखरूप और अलाभ को दुःख रूप मानना अविद्या है। मोही जीव सुगति की प्राप्ति को सुख मानता है क्योंकि इसमें इन्द्रिय विषयों का लाभ प्राप्त होता है, दुर्गति की प्राप्ति को दुःख मानता है क्योंकि इसमें इन्द्रिय विषयों का अलाभ रहता है। इन्द्रिय विषयों में सुख-दुख की यह कल्पना मोह (मिथ्यात्व) के उदयवश अज्ञानी जीवों को होती है।

''यह आत्मा शुभोपयोग की सामर्थ्य से इन्द्रिय सुख के स्थानभूत तिर्यंच, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक उसमें रहता है उतने समय तक अनेक प्रकार का इन्द्रिय सुख प्राप्त करता है। यह स्वभावभूत-स्वभावसिद्ध सुख नहीं है। इन्द्रिय सुख के भाजनों में प्रधान देव हैं, वे पंचेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाच की पीड़ा से अर्थात् देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं। भृगुप्रपात (अत्यन्त दुःख से घबराकर आत्मघात करने के लिए पर्वत के निराधार उच्च शिखर से गिरना) के समान मनोज्ञ विषयों की ओर दौड़ते हैं।

अशुभोपयोग जन्य पाप के फल में नारकादि की आपदायें मिलती हैं। किन्तु वे देवादिक तथा नारकादिक परमार्थ से दुःखी ही हैं। जैसे तृष्णा के कारण जोंक की दूषित रक्त में प्रवृत्ति दिखाई देती है वैसे ही

विषयतृष्णा के कारण समस्त संसारी जीवों की विषयों में प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसलिए पुण्य के उदय से इन्द्रिय सुख का लाभ वस्तुतः दुःख के बीजरूप तृष्णा का ही लाभ है।''

(प्रवचनसार गाथा ७०-७५ का टीकांश)

अतः इन्द्रिय विषयों के लाभ को सुखरूप और इन्द्रिय विषयों के अलाभ को दुःखरूप मानना अविद्या है – अज्ञान ही है। क्योंकि जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे सभी जीव तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए मरण पर्यन्त विषय-सुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुए उन्हें भोगते हैं। जैसे जोंक तृष्णा के कारण दूषित रक्त को चाहती है और उसी को भोगते हुए मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है उसी प्रकार पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भांति विषय-तृष्णा से आक्रांत होने से, विषयों को चाहते हुए उन्हीं को भोगते हुए मरणपर्यन्त क्लेश पाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी इन्द्रिय सुख का स्वरूप प्रवचनसार गाथा-७६ में निम्नप्रकार बताते हैं –

''सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥

अर्थ :- जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख परसम्बंधयुक्त, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम (हानि-वृद्धिरूप अस्थिर) है – इसप्रकार वह दुःख ही है।''

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार गाथा-७७ में कहते हैं कि जो इन्द्रिय विषयों के लाभ-अलाभ में अन्तर करते हैं, लाभ को सुख और अलाभ को दुःख मानते हैं वे मोही अज्ञानी हैं –

''ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥

अर्थ :- इसप्रकार 'पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है' – ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार-संसार में परिभ्रमण करता है।''

वास्तव में इन्द्रिय सुख और इन्द्रिय दुःखरूप द्वैत विद्यमान नहीं है। ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनों में सुवर्ण व लोहे की बेड़ी की भांति अहंकारिक अविद्याजन्य, अज्ञानजन्य अन्तर मानता है, उसकी चित्त की भूमि कर्मोपाधि (दर्शन मोहनीय कर्म के उदय) के निमित्त से मलिन – विकृत होने से संसारपर्यंत शारीरिक दुःख का ही अनुभव करती है। वह जीव अपनी शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार करता है। उसकी यह अविद्या, अज्ञान, मोहाच्छादित-बुद्धि, वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान व प्रतीति से छेदन की जानी चाहिये।

यदि कोई जीव पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी इस अविद्या (मोहाच्छादित बुद्धि) को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

''यदि कोई साधक सर्वसावद्ययोग (पापारम्भ) को छोड़कर चारित्र अंगीकार किया होने पर भी शुभोपयोग परिणति के वश होकर मोहादिक का उन्मूलन (जड़-मूल से उच्छेदन) नहीं करे तो उसे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए योगी मोहादि के उन्मूलन के प्रति सर्वारम्भ (सर्व उद्यम) पूर्वक कटिबद्ध होता है।''

प्रवचनसार गाथा ७९ का टीकांश)

श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका के श्लोक-५९ में कहते हैं।

''सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं,
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः॥

श्लोकार्थ :- समस्त सुकृत (शुभकर्म) भोगियों के भोग का मूल है, परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भव से विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो और सारतत्त्व स्वरूप ऐसे उभय समयसार (कारण व कार्य) को भजो, इसमें क्या दोष है ?''

अब अविद्या को छेदने में समर्थ विद्या का स्वरूप बताते हैं :-

सच्चिदानन्दमय स्वरूपानुभव

निश्चयात् सच्चिदानन्दाद्वयरूपं तदस्म्यहम् ।
ब्रह्मेति सततभ्यासाल्लीये स्वात्मनि निर्मले ॥३०॥

निश्चय से है ब्रह्म सत् चिदानन्दरूप, वह मैं ही हूँ।
करूँ यही अभ्यास निरन्तर निर्मल निज में लीन रहूँ॥३०॥

अन्वयार्थ :- [निश्चयात् ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द-अद्वय-रूपम्] निश्चय से ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द के साथ एक-रूप है। **['तद्** (ब्रह्म) **अहम् अस्मि' इति सतत-अभ्यासात्]** 'वह ब्रह्म मैं हूँ' ऐसे सतत अभ्यास से **[**(अहम्) **निर्मले स्वात्मनि लीये]** (मैं) अपनी निर्मल आत्मा में लीन होता हूँ।

व्याख्या :- आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिये। अपने को चेतयिता अनुभव करना चाहिये। प्रज्ञा के द्वारा शेष व्यवहार रूप भावों से भिन्न किया गया यह चेतक है सो यह मैं हूँ। सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म वह मैं ही हूँ। जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे समस्त परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्धचैतन्य ही हूँ। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारक भेद, सत्व असत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्म भेद और ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण भेद कथंचित् हों तो भले हों; परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में कोई भेद नहीं है। इसप्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करने से शुद्धचैतन्य में निर्विकल्प अनुभव से उत्पन्न

हुए सुख में मग्नपने को प्राप्त होता है। शुद्ध चिद्रूप का अनुभव ही उपादेय है। ऐसा मोक्षमार्ग है।

जो पुरुष **'अहं शुद्धः चित् अस्मि एव'** मैं निश्चय से शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसे परिणाम संस्कार वाला होता है, अशुद्धता करने वाले परद्रव्य को छोड़कर स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, बंध के नाश को प्राप्त होकर नित्य उदित – सदा प्रकाशमान होता हुआ अपनी ज्योति (आत्म स्वरूप के प्रकाश से) से निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ कर्मों से मुक्त होता है। (समयसार कलश-१९१) अपने निर्मल आत्मा को प्राप्त करता है। निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होने वाला मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है।

आचार्य नागसेन ने तत्त्वानुशासन श्लोक-१७७ में द्वैतपना और अद्वैतपना का स्वरूप स्पष्ट किया है :-

''आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं॥

अर्थ :- अन्य कर्मों के संबन्ध से संयुक्त आत्मा को देखता हुआ यह जीव द्वैतपना देखता है, परन्तु जब यही जीव इस आत्मा को कर्मों के सम्बन्ध से रहित व भिन्न देखता है तो यही आत्मा उसे अद्वैत दिखाई देता है।''

तत्वज्ञान तरंगिणी श्लोक-२० अध्याय-६ में भट्टारक ज्ञानभूषण कहते हैं:-

''निश्चलोंऽगी यदा शुद्धः चिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात् क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग्॥

अर्थ :- जिस समय निश्चल मन से यह स्मरण किया जाता

है कि 'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ' भावमोक्ष उसी समय हो जाता है और द्रव्य-मोक्ष क्रमशः होता चला जाता है।''

इन्द्रिय विषयों के लाभ को सुखरूप और अलाभ को दुःखरूप मानना अविद्या है। इस अविद्या का नाश विद्या से अर्थात् अपने आत्मा को सत्-चित्-आनन्द के साथ अद्वैत ब्रह्मरूप अनुभव करने से होता है।

जीव अपनी आत्मा को अन्य कर्मों से सम्बन्धित देखता हुआ द्वैतपना देखता है, परन्तु जब यही जीव इस आत्मा को कर्मों के सम्बंध से रहित भिन्न देखता है, तो वही आत्मा उसे अद्वैत दिखाई देता है।

''औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक भावान्तरों (परम पारिणामिक भाव से भिन्न भाव) से अगोचर होने से जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रूप उपाधि से जनित विभावगुण पर्यायों से रहित है, तथा अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है ऐसा कारण परमात्मा वास्तव में 'आत्मा' है। अति आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा (अद्वैत ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।'' (नियमसार गाथा-३८ की पद्मप्रभमलधारीदेव विरचित टीका)

योगी जिस स्वात्मा में लीन होने का निरन्तर अभ्यास करता है वह सत्-चित्-आनन्द रूप है। वह नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है। जैसा कि पद्मप्रभमलधारीदेव नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका के श्लोक-५६ में कहते हैं :-

''नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्॥

अर्थ :- जो नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है तथा जो विपदाओं का अत्यन्तरूप से अपद है (जहाँ विपदा बिल्कुल नहीं है) ऐसे इसी पद का मैं अनुभव करता हूँ।''

निजपदरूप आत्मा ज्ञान-आनन्दरूपी सम्पदाओं से भरपूर है। स्वरूप में से अनन्त काल तक ज्ञान व आनन्द निकला करे तो भी यह सम्पदा कभी कम नहीं होती। वह शुद्ध अन्तःतत्व, सहज शुद्ध निश्चय नय से अनादि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले और शुद्ध ऐसे सहज-ज्ञान, सहज-दर्शन, सहज-चारित्र, सहज-परम वीतराग सुखात्मक है। वह विपदाओं का अत्यन्त रूप से अपद है – उसमें मोह-राग-द्वेषरूप विपदायें हैं ही नहीं। ऐसे निजपद का अनुभव रागादिरूप अति उग्र शत्रुओं की अनुत्पत्ति और विनाश का साधन है।

इसलिये योगी ऐसी शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु में ही स्थिति प्राप्त करता है, उसी का निरन्तर ध्यान करता है, उसी को चेतता – अनुभव करता है, उसी में निरन्तर विहार करता है। पुनः पुनः उस शुद्ध स्वरूप का स्मरण करता है, शुद्ध चिद्रूप में एकाग्र होकर अखण्ड धारा प्रवाह-रूप प्रवर्तता है। ज्ञानी की निरन्तर यह भावना रहती है कि यह काल की आवली जो कि प्रवाहरूप से अनन्त है वह आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे, उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी नहीं जावे।

आत्मा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। अब इन विशेषणों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

योगी जिस आत्मद्रव्य को 'मैं' रूप अनुभव करते हैं, उसका 'सत्' स्वरूप कहते हैं :-

आत्मा का सत्स्वरूप

सन्नेवाहं मया वेद्ये स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात्।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वादसन्नेव विपर्ययात्॥ ३१॥

व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यमय सत् हूँ, स्व-द्रव्यादि चतुष्टय से।
अनुभव करता, और असत् हूँ, पर द्रव्यादि चतुष्टय से॥३१॥

अन्वयार्थ :- [**स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मत्वात्**] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने के कारण, [**स्व-द्रव्यादि-चतुष्टयात्**] स्व-द्रव्यादि चतुष्टय की दृष्टि से [**अहम् सन्नेव**] मैं सत् रूप ही हूँ, और [**विपर्ययात् असन्नेव**] विपरीत दृष्टि से (पर-चतुष्टय की दृष्टि से) मैं असत् ही हूँ [**इति मया वेद्ये**] – ऐसा मैं अनुभव करता हूँ।

व्याख्या :- अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है **(सत् द्रव्यलक्षणम्)** वह अस्तित्व अनादि-अनन्त है तथा अहेतुक एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है। गुण-पर्यायों का और द्रव्य का अस्तित्व भिन्न नहीं है, एक ही है, क्योंकि गुण-पर्यायें द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं और द्रव्य गुण-पर्यायों से ही निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं, और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न न दिखाई देने वाले गुणों और पर्यायों का अस्तित्व वह द्रव्य का ही अस्तित्व है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्रव्य के अस्तित्व का स्वरूप प्रवचनसार गाथा-९५ व ९६ में विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

''अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्त संबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥
सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥

अर्थ :- स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहते हैं। सर्वकाल गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है, वह वास्तव में स्वभाव है।''

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ गाथा-१० में द्रव्य को तीन लक्षण वाला कहा है :-

''दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

अर्थ :- जो 'सत्' लक्षण वाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण-पर्यायों का आश्रय है, सर्वज्ञ उसे द्रव्य कहते हैं।''

आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य के सत् स्वरूप को तीन सूत्रों द्वारा बताया है :- **''सत् द्रव्यलक्षणं। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।''**

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीनों सूत्रों का भाव उपरोक्त दो गाथाओं में व्यक्त किया है।

इस विश्व में जो स्वभाव भेद किये बिना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रय से और गुण-पर्याय से लक्षित होता है, पहिचाना जाता है, वह द्रव्य है। द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुण-पर्यायों के साथ लक्ष्य-लक्षण भेद होने पर भी स्वरूपभेद नहीं है। स्वरूप से द्रव्य उत्पादादि अथवा गुण-पर्याय वाला है।

मेरी आत्मा का अस्तित्व भी स्वभाव भेद किये बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से और गुण-पर्याय से लक्षित होता है। आत्मा एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ और टिकने वाली ऐसी द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है। किन्तु उसका ध्रौव्य के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

आत्मा का अस्तित्व जो उसका स्वभाव है वह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से गुणों और पयार्यों से पृथक् नहीं दिखाई देता, कर्त्ता-करण-अधिकरणरूप से द्रव्य के स्वरूप को धारण करके

प्रवर्तमान गुणों और पर्यायों से जिसकी निष्पत्ति होती है, ऐसे आत्मा (द्रव्य) का मूल साधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है।

आत्मा का अस्तित्व उसके गुणों से और पर्यायों से भिन्न नहीं दिखाई देता, इसलिए जो गुण पर्यायों का अस्तित्व है वह ही आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा अपने स्वरूप को गुणों और पर्यायों द्वारा ही धारण करता है। इसलिए गुण और पर्यायों के अस्तित्व से ही आत्मा की निष्पति होती है। गुण और पर्यायें न हों तो आत्मा (द्रव्य) भी न हो।

अपनी आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व है, परद्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व है। आत्मा स्वक्षेत्र में अस्तित्व धारण करता है, परज्ञेयों के क्षेत्र का स्वक्षेत्र में नास्तित्व है। आत्मा का अस्तित्व अपने काल से है, परज्ञेयों के काल से नास्तित्व है। आत्मा में ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व है, शुद्ध ज्ञानस्वभाव में सर्व परभावों का नास्तित्व है।

मेरे आत्मद्रव्य और अस्तित्व के प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा का अस्तित्व अनादि अनन्त है। मेरा आत्मा अहेतुक एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है। मेरे गुण-पर्यायों और द्रव्य का अस्तित्व एक ही है।

मेरा आत्मद्रव्य गुण-पर्यायों से निष्पन्न होता है और गुण-पर्यायें द्रव्य से निष्पन्न होती हैं। इसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मेरी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं और आत्म द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से निष्पन्न होता है।

इसप्रकार मेरा आत्मा (द्रव्य) स्वभाव से सिद्ध और सत् है। स्वभावसिद्ध होने से अनादि अनन्त है। नित्य स्वभाव में अवस्थित होने से सत् है। आत्मा का स्वभाव ध्रौव्य-उत्पाद-विनाश की एकता

स्वरूप परिणाम है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समयभेद नहीं है, तीनों ही एक समय में हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में आत्मा स्वभाव से सदा रहता है, इसलिए मेरा आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है (प्रवचनसार गाथा-९९)। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में वर्तते हैं, पर्यायें नियम से द्रव्य में होती हैं, इसलिए वह सब द्रव्य ही है।

आचार्य जयसेन प्रवचनसार की तात्पर्यवृति टीका (गाथा-९५) में कहते हैं :- **'उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपं गुणपर्यायस्वरूपं च परिणमति शुद्धात्मदेव'** – शुद्धात्मदेव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप व गुण पर्याय स्वरूप परिणमित होता है।

''आत्मवस्तु में सत्त्व-असत्त्व एक साथ विद्यमान है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभावपने के द्वारा सत्त्व है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभावपने के द्वारा असत्त्व है।'' (आत्मख्याति कलश-२४७ की व्याख्या)

स्वामी समन्तभद्र ने देवागम-स्तोत्र १५ में स्पष्टरूप से कहा है कि:-

''सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

अर्थ:- सर्व द्रव्य स्वरूपादि-चतुष्टय की दृष्टि से सत्-रूप ही हैं और पररूपादि-चतुष्टय की अपेक्षा असत्रूप ही हैं। यदि ऐसा नहीं माना जावेगा तो सत् और असत् दोनों में से किसी की भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।''

यद्यपि चैतन्यमात्र वस्तु (निज आत्मा) अनेक शक्ति-समूहरूप सामान्य-विशेषरूप है, परन्तु ज्ञानी उसे सर्वशक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है।

ज्ञानी या स्याद्वादी अपनी आत्मा का संचेतन कैसा करता है? यह आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में :- **'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।'**

(समयसार कलश २७०-२७१ के बीच में समागत टीकांश)

मैं सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव से विराजमान हूँ। स्वद्रव्यरूप विचारने पर स्वद्रव्यमात्र हूँ, स्वक्षेत्ररूप विचारने पर स्वक्षेत्रमात्र हूँ, स्वकालरूप विचारने पर स्वकालमात्र हूँ, स्वभावरूप विचारने पर स्वभावमात्र हूँ। मैं ज्ञानमात्र प्रकाश पुँज हूँ। सहजरूप से अखण्ड हूँ, एक हूँ, एकान्त शान्त और अपने चैतन्य-स्वरूप में अचल हूँ। ऐसा चैतन्य-स्वरूप मैं हूँ।

स्याद्वादी स्वचतुष्टय की दृष्टि से अपने को सत्रूप और पर चतुष्टय की अपेक्षा असत्रूप अनुभव करता है – इसको पाण्डे राजमलजी समयसार कलश-२५२ की टीका में इसप्रकार बताते हैं:-

''ज्ञानवस्तु का अपने अस्तित्व से अस्तित्व है, उसके भेद चार है:- स्वद्रव्यपने अस्ति, स्वक्षेत्रपने अस्ति, स्वकालपने अस्ति, स्वभावपने अस्ति। परद्रव्यपने नास्ति, परक्षेत्रपने नास्ति, परकालपने नास्ति, परभावपने नास्ति। उनका लक्षण – स्वद्रव्य-निर्विकल्प मात्र वस्तु और उसमें सविकल्प भेद-कल्पना परद्रव्य। स्वक्षेत्र-आधारमात्र वस्तु का प्रदेश जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्र वही प्रदेश, सविकल्प भेद कल्पना से परप्रदेश बुद्धिगोचररूप से कहा जाता है। वस्तुमात्र की मूल अवस्था स्वकाल; उस मूल निर्विकल्प अवस्था में अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहा जाता है। वस्तु की मूल की सहज शक्ति वह स्वभाव; उस द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेद कल्पना, उसे परभाव कहा जाता है।''

इसप्रकार स्याद्वादी ज्ञानमात्र जीव वस्तु का अपने अस्तित्व (स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से अनुभव करता है। जैसे एक वन में बहुत से (संख्यापेक्षा से अनेक) वृक्षों का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है, प्रत्येक वृक्ष विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होता है। परन्तु वृक्षत्व जो सर्ववृक्षों का सामान्य लक्षण है और जो वृक्षों में सादृश्य बतलाता है, उसकी अपेक्षा से सर्व वृक्षों में एकत्व है – यह सादृश्य अस्तित्व है। जब एकत्व को मुख्य करते हैं तो अनन्त और अनेक (छह) प्रकार के द्रव्यों में सामान्य सत्पना लक्ष में आता है – सादृश्य अस्तित्व भासित होता है। जब अनेकत्व मुख्य करते हैं तब एकत्व गौण हो जाता है, प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है। स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा सभी जीवों में अनेकत्व है परन्तु सादृश्य-अस्तित्व (जीवपने) की अपेक्षा सब जीवों में एकत्व है।

योगी (ज्ञानी) अपना स्वरूप-अस्तित्व समस्त जगत से भिन्न अनुभव करता है, वह कहते हैं :-

स्वरूप-अस्तित्व की भिन्नता

यथा जातु जगन्नाहं तथाहं न जगत् क्वचित्।
कथंचित्सर्वभावानां मिथोव्यावृत्ति-वित्तितः ॥३२॥

सर्व पदार्थ परस्पर भिन्न कथंचित् – ऐसा ज्ञान लिया।
अतः जगत् मैं नहीं और मैं जैसा हूँ वह जगत् नहीं॥३२॥

अन्वयार्थ :- [**सर्व-भावानाम्**] सर्व पदार्थों की [**मिथः**] परस्पर [**कथञ्चित् व्यावृत्ति-वित्तितः**] कथञ्चित् पृथकता ज्ञात होने से [**यथा जातु जगन्नाहं**] जैसा जगत है वैसा मैं कभी नहीं हूँ और [**तथा अहम्** (अपि) **क्वचित् न जगत्**] जैसा मैं हूँ वैसा जगत कभी नहीं है।

व्याख्या :- ज्ञानी निज शुद्धात्मा को सर्व परद्रव्यों से तथा परभावों से भिन्न ग्रहण करके उसी का अनुभव करता है। अथवा जगत के स्वरूप से अपने स्वरूप को भिन्न अनुभव करता है।

तत्त्वानुशासन श्लोक-१७५ में आचार्य नागसेन कहते हैं :-

''परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः॥

अर्थ :- प्रकारान्तर से संसार के समस्त पदार्थ परस्पर परावृत्तरूप हैं अर्थात् संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने से भिन्न अन्य समस्त पदार्थों के अभावरूप है इसलिए संसार नैरात्म्य है तथा संसार और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए आत्मा नैर्जगत्य – संसार से भिन्न है।''

अन्य आत्माओं और पदार्थों का अपनी स्वरूप सत्ता में अभाव ही नैरात्म्य कहलाता है और वह स्वात्मसत्तात्मक ही होता है (अपनी आत्मा की सत्तारूप होता है), इसलिए सम्यग्नैरात्म्य दर्शन स्वात्म दर्शन ही है। अपने आत्मा का दर्शन ही उत्तम नैरात्म्य दर्शन है।

निज शुद्धात्मा को सर्व परद्रव्यों व परभावों से भिन्न चैतन्यज्योति-मात्र अनुभव करने के अतिरिक्त जगत में वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।

ज्ञानी अपनी आत्मा की सत्ता में स्वद्रव्य से अस्तित्व और परद्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व मानता हुआ निजद्रव्य में ही रमता है। इसी प्रकार स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ भी ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से अपनी ज्ञान की पर्याय में ज्ञानाकार रूप परिणमित ज्ञेय जैसे आकारों को नहीं छोड़ता इसलिए तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानी अपनी आत्मा का निजकाल से अस्तित्व जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी अपने को पूर्णरूप अनुभव करता है-

आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान के पुँजरूप वर्तता हुआ अपने स्वरूप में रहता है। ज्ञानी तो, ज्ञानभाव के ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि होने से, अपने शुद्ध स्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ, अपने ज्ञायक स्वभाव में निष्कम्प वर्तता हुआ शोभित होता है।

ज्ञानी को चित्स्वरूप का संचेतन

यद् चेतत्तथानादि चेततीत्थमिहाद्य यत्।
चेतिष्यत्यन्यथानन्तं यच्च चिद्द्रव्यमस्मि तत् ॥३३॥

जिसने चेता है अनादि से और आज भी चेत रहा।
जो अनन्त तक चेतेगा मैं हूँ वह चेतन द्रव्य रहा॥३३॥

अन्वयार्थ :- [**यत् अनादि तथा अचेतत्**] जिसने अनादि से उस प्रकार चेता है [**यत् इह अद्य इत्थं चेतति**] जो आज यहाँ इस प्रकार चेत रहा है [**यत् च अन्यथा अनन्तं चेतिष्यति**] और जो अन्य प्रकार से अनन्तकाल तक चेतता रहेगा [**तत् चित्-द्रव्यम्** (अहम्) **अस्मि**] वह चेतन द्रव्य मैं हूँ।

व्याख्या :- सम्यग्दृष्टि जीव को अपने चित् स्वरूप का संचेतन कैसा होता है? जो अनादिकाल से चेतता है (जानता-देखता है) जो वर्तमान में भी चेत रहा है और भविष्य में भी चेतता रहेगा – ऐसा चैतन्य स्वरूप द्रव्य मैं हूँ।

तत्त्वानुशासन श्लोक-१५६ में आचार्य नागसेन चेतयिता को चैतन्य स्वरूप का संचेतन कैसा होता है – यह बताते हैं :-

''यद् चेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं॥

अर्थ :- जो पहले भी इसी रूप में चैतन्य स्वरूप था, आगे

भी रूपान्तर से चैतन्य स्वरूप रहेगा और आज भी जो चैतन्य स्वरूप है – ऐसा चैतन्यस्वरूप चिद्द्रव्यमय मैं हूँ।''

समयसार कलश-१८४ में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैंः-

''एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥

अर्थ :- चैतन्य (आत्मा) का तो एक चिन्मय ही भाव है, और जो अन्य भाव हैं वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं; इसलिए एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं।''

ज्ञानी को निरन्तर यह संचेतन वर्तता है कि '**अहं शुद्धः चित् अस्मि**' मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ ।

किसी वस्तु के प्रति एकाग्र होकर उसी का अनुभवरूप स्वाद लिया करना उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र होकर उस ओर ही ध्यान रखना वह ज्ञान का संचेतन है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-२२४ में कहते हैंः-

''ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः॥

अर्थ :- निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान (आत्मा) शुद्ध प्रकाशित होता है और अज्ञान (कर्मचेतना व कर्मफलचेतना) की संचेतना से बंध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।''

जीव में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण रूप कारक भेद, सत्व-असत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि धर्म भेद, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुण भेद और उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य रूप पर्याय भेद यदि कथंचित (किसी अपेक्षा से) हो तो भले हो; परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भाव, जिसे ज्ञानी 'मैं' रूप अनुभव करता है उसमें तो कोई भेद नहीं है। श्रद्धा (अहं) का विषय तो सदाकाल निरावरण, अखण्ड एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमान चैतन्य वस्तु ही है। योगी को अपना आत्मा सदैव सर्व विशुद्ध चिन्मात्र भावरूप अनुभव में आता है, यद्यपि लब्धरूप ज्ञान में कारक भेद, गुण भेद व पर्याय भेद विद्यमान होते हैं।

यह ज्ञान की संचेतना ही आत्मा की रागादि मलिनता का अभाव कर उसे पूर्ण शुद्धरूप में प्रकाशित करने में समर्थ है। इसप्रकार ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के विषयभूत कारण-परमात्मा अथवा ध्रुव तत्त्व को अपना सर्वस्व मानता है। ज्ञानी के विश्व में ध्रुव (निजकारण-परमात्मा) के अतिरिक्त अन्य सत्ता का स्वीकार (श्रद्धा में) ही नहीं है। ज्ञान में स्व-पर का भेद पैदा होता हो तो हो, परन्तु अहं का विषय तो अभेद त्रिकाली ध्रुव ही रहता है।

अब कहते हैं कि चित्स्वरूप रूप अनुभव में आने वाला आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक चैतन्य परिणति रूप लक्षण से लक्षित होता है:-

आत्मा की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता

एकमेकक्षणे सिद्धं नश्यत् प्रागात्मना भवत्।
सतात्तिष्ठत्तदेवेदमिति वित्त्या यथेक्ष्यते ॥३४॥

द्रव्यं तथा सदा सर्वं द्रव्यत्वात्तद्वदप्यहम्।
विवर्तेनादिसन्तत्या चिद्विवर्तैः पृथग्विधैः ॥३५॥

पूर्वरूप से हो विनष्ट अरु वर्तमान में हो उत्पन्न।
'यह वह ही है' इसप्रकार सत् रूप ज्ञान है सिद्ध स्वयं ॥३४॥

सभी द्रव्य हैं द्रव्य अनादि पर्यायों से सिद्ध स्वयं।
तद्वत् मैं भी भिन्न अन्य से चित्-परिणति से सिद्ध स्वयं ॥३५॥

अन्वयार्थ :- [**यथा एकम्** (द्रव्यम्)] जिसप्रकार एक द्रव्य [**एक क्षणे**] एक ही क्षण में [**प्राक्-आत्मना नश्यत्**] पूर्व-पर्याय से नष्ट होता हुआ [**भवत्**] वर्तमान में उत्पन्न होता हुआ [**सत् अतिष्ठत्**] सत् रूप से सदा स्थिर रहता हुआ [**'तत् एव इदम्' इति वित्या**] 'यह वही है' – इसप्रकार से ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) से [**सिद्धम् ईक्ष्यते**] सिद्ध हुआ लक्षित होता है [**तथा** (एव)] वैसे ही [**द्रव्यत्वात्**] द्रव्य होने से [**सदा सर्वं द्रव्यम्**] सदा सारे द्रव्य [**अनादि संतत्या विवर्तेन सिद्धम्**] अनादि सन्तति से चली आ रही पर्यायों से सिद्ध हैं। [**तद्वत**] उनके समान ही [**अहम् अपि**] मैं भी [**पृथग्विधैः चिद्विवर्तै सिद्धम्**] (अनादि सन्तति से) अन्य अचेतन द्रव्यों से भिन्न प्रकार की चेतन पर्यायों से सिद्ध हूँ।

व्याख्या :- वीतराग जिनेन्द्र भगवान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त अथवा गुण-पर्यायों से युक्त पदार्थों को द्रव्य कहते हैं। अपनी जाति को न छोड़ते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्य को जो अन्य पर्यायों की प्राप्ति होती है वह उत्पाद कहलाता है। अपनी जाति का विरोध न करते हुए चेतन-अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह व्यय कहलाता है। अनादिस्वभाव के कारण द्रव्य में जो उत्पाद और व्यय का अभाव है उसे जिनेन्द्र भगवान ध्रौव्य कहते हैं।

– तत्त्वार्थसार-३/५-८

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा-९६ की टीका में इस द्रव्य-स्वभाव को स्वर्ण के उदाहरण द्वारा समझाया है :- 'जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से स्वर्ण से जो पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण-अधिकरण रूप से, कुण्डलादि उत्पादों के, बाजूबंधादि व्ययों के

और पीतत्वादि ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान स्वर्ण के अस्तित्व से जिनकी निष्पति होती है, ऐसे कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंधादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्य से जो स्वर्ण का अस्तित्व है, वह स्वर्ण का स्वभाव है। इसीप्रकार उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यों के अस्तित्व से ही द्रव्य की निष्पत्ति होती है। ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही द्रव्य के कर्त्ता, करण और अधिकरण हैं, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही द्रव्य के स्वरूप को धारण करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा-९९-१०२ की टीका में – द्रव्य के प्रवाह (काल सापेक्ष परिणमन) का छोटे से छोटा अंश परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपने रूप से उत्पन्न होता है (उत्पाद), पूर्वरूप से नष्ट होता है (व्यय) और सर्व परिणामों में एक प्रवाहपना (ध्रौव्य) होने से प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप-ध्रौव्य रहता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समय भेद नहीं है, तीनों का एक ही समय है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य स्वभाव से सदा रहता है, द्रव्य स्वयं भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। जैसे बीज, अंकुर और वृक्षत्व, यह वृक्ष के अंश हैं। बीज का नाश, अंकुर का उत्पाद और वृक्षत्व ध्रौव्य-तीनों एक ही साथ होते हैं; तथा मृतिकापिण्ड का व्यय, रामपात्र का उत्पाद और मिट्टीपना – यह मिट्टी के ही अंश हैं। उसी प्रकार लोक में विद्यमान प्रत्येक द्रव्य में उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्व में प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही है, अन्य पदार्थ नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१५४ में द्रव्य के इस स्वरूप अस्तित्व को लक्ष्य में लेने का फल बताते हैं :-

''तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि॥

अर्थ :- जो उस अस्तित्व निष्पन्न तीन प्रकार से कथित भेदों वाले (द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप से त्रयात्मक) द्रव्य स्वभाव को जानता है वह अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होता।''

सम्यग्दृष्टि जीव अपने को उपर्युक्त स्वभाव वाला आत्मा अर्थात् चेतनद्रव्य अनुभव करता है।

उसे अपनी आत्मा का अनुभव इसप्रकार होता है :- ''पूर्व और उत्तर व्यतिरेक (पर्याय) को स्पर्श करने वाले चेतन स्वरूप जो ध्रौव्य और चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मकता ऐसा जिसका स्वभाव है, वह चेतनामय परिणमित द्रव्य मैं हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ। यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है – ऐसा पुदगल यह मुझसे भिन्न है।''(प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका गाथा-१५४)

इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव पर में मोहित नहीं होता।

अब कहते हैं कि चित्स्वरूप आत्मा गुण-पर्यायवान है:-

गुण-पर्याय-वद् द्रव्यं गुणाः सहभुवोन्यथा।
पर्यायास्तत्र चैतन्यं गुणः पुंस्यन्वयित्वतः ॥३६॥

गुण-पर्यायों युक्त द्रव्य है गुण सहभावी होते हैं।
पर्यायें व्यतिरिक्त और चैतन्य अन्वयी निज गुण हैं॥३६॥

अन्वयार्थ :- [**गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्**] द्रव्य गुणों व पर्यायों से युक्त है [**सहभुवः गुणाः**] गुण सहभावी हैं (एक साथ रहते हैं)। [**पर्यायाः अन्यथा**] पर्यायें (गुणों) से भिन्न प्रकार की हैं (अर्थात् वे सहभावी न होकर क्रमभावी हैं)। [**तत्र चैतन्य गुणः**] वहाँ चैतन्य

आत्मा का गुण है, [**पुंसि अन्वयित्वतः**] क्योंकि वह आत्मा में अन्वयी है।

व्याख्या :- सर्वकाल में गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का अस्तित्व है। जिस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का और द्रव्य का अस्तित्व एक ही है, उसी प्रकार गुण-पर्यायों का और द्रव्य का अस्तित्व एक ही है। गुण-पर्यायें द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं और द्रव्य गुण-पर्यायों से ही निष्पन्न होता है। इस विश्व में गुण ऐसा कुछ या पर्याय ऐसा कुछ द्रव्य के बिना नहीं होता, इसलिए द्रव्य स्वयं सत्ता है-सत् है। द्रव्य, गुण और पर्याय एक दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं इसलिये यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते। जैसे स्वर्ण में पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायें सुवर्ण से पृथक् दिखाई नहीं देते।

प्रवचनसार गाथा-९३ में आचार्य कुन्दकुन्द ने पदार्थ को द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वर्णन किया है :-

''अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥

अर्थ :- पदार्थ द्रव्य स्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ़ जीव परसमय (मिथ्यादृष्टि) है। द्रव्य की जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्य का जो परिणमन (विशेष कार्य) है वह पर्याय कहलाता है।''

''द्रव्य-गुण-पर्यायों का अपृथक्सिद्ध समुदाय है। सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं; तथा व्यतिरेक, विशेष, भेद ये पर्यायवाचक शब्द कहे गये हैं।'' (तत्त्वार्थसार श्लोक ३/१०)

पुरुष अर्थात् आत्मा भी जानने में आने वाला पदार्थ है। वह समस्त ही गुण व पर्यायात्मक द्रव्य से रचित है, अतः द्रव्यमय है।

वह गुणों से रचित होने से गुणात्मक है और द्रव्य से तथा गुणों से रचित होने से पर्यायें गुणात्मक भी होती हैं और द्रव्यात्मक भी। अर्थात् पर्यायें द्रव्य की भी होती हैं और गुणों की भी। जीवात्मा के अनन्त गुणों में चेतनत्व उसका लक्षण है। चैतन्य गुण जीव के साथ सदा रहता है, उसके सर्व विशेषों में व्याप्त रहता है, कभी जीव से अलग नहीं होता, इसलिए आत्मा का विशेष गुण है। गुण सहभावी – एक साथ द्रव्य में विद्यमान हैं और पर्यायें क्रमभावी होती हैं, क्योंकि विद्यमान पर्याय का अभाव होकर उत्तर पर्याय प्रगट होती है।

द्रव्य को विस्तार सामान्य समुदायात्मक कहा गया है, (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका गाथा-९३) विस्तार का अर्थ है चौड़ाई। एक साथ रहने वाले अर्थात् सहभावी विशेषों (विस्तार विशेषों) को गुण कहा जाता है; जैसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि जीव के विस्तार विशेष अर्थात् गुण हैं। जो द्रव्य में सदा एकसाथ रहें उन्हें गुण कहते हैं। द्रव्य को आयतसामान्य समुदायात्मक भी कहा गया है। आयत का अर्थ है लम्बाई अर्थात् कालापेक्षित प्रवाह। कालापेक्षित प्रवाह अर्थात् काल क्रम में एक के बाद एक प्रवर्तमान (क्रमभावी) भेदों (आयत विशेषों) को पर्याय कहा जाता है।

अनन्त गुणों का आश्रय एक द्रव्य है। द्रव्य व उसके गुणों की एक के बाद एक (कालसापेक्ष प्रवर्तमान) प्रगट होने वाली अवस्थायें (भेद विशेष) पर्यायें हैं।

चेतनत्व आत्मा का विशेष गुण है। इसीलिए ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) अनुभव करता है कि **'शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि'** मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूह रूप तेजपुंज की निधि हूँ।

जीव द्रव्य का परमार्थ स्वरूप कैसा है? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-४९ में

निम्नप्रकार से देते हैं:-

''अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

अर्थ :- हे भव्य ! तू जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्टसंस्थान और चेतनागुण संयुक्त जान।''

समस्त अन्य द्रव्यों से जीवद्रव्य के विभाग का साधन चेतनागुण- है। यह गुण ही आत्मा को शेष अन्य द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करता है।

आत्मा चेतनारूप से परिणमित होता है, आत्मा का जो कुछ परिणाम है वह सब ही चेतनत्व का उल्लंघन नहीं करता, अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित भी नहीं छोड़ता। चेतना का परिणमन तीन रूप होता है १. ज्ञानरूप, २. कर्मरूप और ३. कर्मफलरूप। उसमें ज्ञान परिणति (जानने-देखनेरूप व्यापार) वह ज्ञानचेतना, कर्म (मोह-राग-द्वेष) परिणति वह कर्मचेतना और कर्मफल परिणति (इन्द्रिय सम्बंधी सुख-दुःख वेदन) कर्मफलचेतना है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१२५ में ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं:-

''अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाण कम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च जादा मुणेदव्वो॥

अर्थ :- आत्मा परिणामात्मक है, परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है – ऐसा समझना।''

यह ज्ञानप्रधान कथन है। वास्तव में शुद्ध द्रव्य के निरूपण में परद्रव्य के सम्बन्ध का असम्भव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन (अत्यन्त लीन, अदृश्य) हो जाने से आत्मा द्रव्यदृष्टि में शुद्ध

द्रव्य ही रहता है। सहज शुद्ध कारणपरमात्मा जिसे योगी **'सो अहम्'** रूप अनुभव करता है वह सहज शुद्ध ज्ञानचेतना स्वरूप है।

संसार दशा में स्थावर (एक इन्द्रिय वृक्षादि जीव) जीवों को केवल कर्मफलचेतना होती है। कार्य परमात्मा (अरिहन्त-सिद्ध) और कारण परमात्मा (निज शुद्ध आत्मा – त्रिकाल शुद्ध आत्मतत्त्व) को केवल ज्ञानचेतना होती है। सामान्य त्रस जीवों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय) को कार्य सहित कर्मफलचेतना होती है। सम्यक्त्व होने पर ज्ञानचेतना का अंश प्रगट होता है और केवलज्ञान होने पर आत्मा पूर्ण शुद्ध ज्ञानचेतनामय हो जाता है।

ज्ञान की संचेतना से ही जीव शुद्धरूप में प्रकाशित होता है (अनन्त शक्तियाँ पर्याय में व्यक्त होती हैं)।

द्रव्य – जीव और अजीव हैं। उनमें जो चेतनामय तथा उपयोगमय है वह जीव है और शेष द्रव्य – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन द्रव्य हैं – अजीव हैं।

आत्मा के चित्स्वरूप का निश्चय स्व-रूप से अस्तित्व और पर-रूप से नास्तित्व – इन दोनों के द्वारा होता है। अत: अब पर-रूप से नास्तित्व द्वारा आत्मा के चित्स्वरूप का निश्चय कराने हेतु अजीव द्रव्यों के स्वरूप का कथन करते हैं।

अजीव द्रव्यों के विशेष लक्षण और अर्थ पर्याय का स्वरूप

रूपित्वं पुद्गले धर्मे गत्युपग्राहिता तयो: ।
स्थित्युपग्राहिताऽधर्मे, परिणेतृत्व-योजना ॥३७॥

सर्वत्र काले सर्वेषां खेऽवगाहोपकारिता ।
सर्वेषामर्थ-पर्याय: सूक्ष्म: प्रतिक्षण-क्षयी ॥३८॥

पुद्गल रूपी, धर्म द्रव्य है गति-उपकारी दोनों को।
स्थिति-उपकारी अधर्म है काल द्रव्य परिवर्तन में॥३७॥
सब द्रव्यों के लिए हेतु अवगाहन में आकाश लखो।
सबकी सूक्ष्म अर्थ-पर्यायें प्रतिक्षण पाती हैं क्षय को॥३८॥

अन्वयार्थ :- [**पुद्गलेरूपित्वम्**] पुद्गल में रूपित्व गुण है, [**धर्मे तयो गति-उपग्राहिता**] धर्मद्रव्य में जीव व पुद्गल दोनों के प्रति गति-उपकारिता है, [**अधर्मे स्थिति-उपग्राहिता**] अधर्मद्रव्य में स्थिति उपकारिता गुण है, [**काले सर्वत्र सर्वेषाम् परिणेतृत्व-योजना**] काल-द्रव्य में सर्वत्र (सभी द्रव्यों के प्रति) परिणेतृत्व (परिवर्तन का कारणभूतपना) गुण है, [**खे अवगाह- उपकारिता**] आकाश में (सभी द्रव्यों के प्रति) अवगाहोपकारिता गुण है। (इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विशेष गुणों का कथन किया, अब पर्याय- स्वरूप कहते हैं।) [**सर्वेषाम् अर्थ-पर्यायः सूक्ष्मः, प्रतिक्षण-क्षयी**] सभी द्रव्यों की अर्थ-पर्यायें सूक्ष्म व प्रतिक्षण क्षय को प्राप्त होने वाली हैं।

व्याख्या :- जीवद्रव्य से भिन्न अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं– पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाशद्रव्य।

जो द्रव्य चेतना-रहित है वह अजीव है। पुद्गल में रूपित्व (वर्ण-रस-गंध-स्पर्श), धर्मद्रव्य में जीव-पुद्गल की गति में सहकारिता (निमित्तभूत होना) अधर्मद्रव्य में दोनों की स्थिति में सहकारिता, काल द्रव्य में परिणेतृत्व (सर्वद्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत होना) और आकाश में सब द्रव्यों को अवगाहन में सहकारिता विशेष गुण हैं।

सर्वद्रव्यों में व्याप्त होने वाला परम महान आकाश है। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है; उसके जितने भाग में गति व स्थिति धर्म वाले जीव तथा पुद्गल द्रव्य गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं, धर्म और अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं और सर्व द्रव्यों के वर्तना में निमित्तभूत काल

वर्तता है उतना आकाश लोक है, और जितने आकाश में जीव-पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्म और अधर्म नहीं रहते और काल नहीं वर्तता, उतना केवल आकाश जिसका स्वपने से स्वलक्षण है, वह अलोक है।

उपर्युक्त छह द्रव्यों का समुदाय ही लोक है, अर्थात् वह ही लोक का स्वरूप है। छह द्रव्यों का समुदाय लोक का स्वलक्षण है। इनमें आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म अमूर्त (स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है) हैं, पुद्गल द्रव्य मूर्त है। जीव वास्तव में चेतन है। मूर्त द्रव्य इन्द्रियग्राह्य विषय है, शेष पदार्थसमूह अमूर्त है, उनमें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण (जानना) होने की योग्यता का अभाव है। मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ चित्त (भावमन) द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के सद्भाव वाले हैं।

ये छह द्रव्य नित्य हैं क्योंकि ये कभी भी अपने स्वभाव से नष्ट नहीं होते। छह की सीमा का उल्लंघन नहीं करते ।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य (कालाणु) असंख्यात हैं। जीव अनन्त हैं और पुद्गल उनसे अनन्तगुने हैं अर्थात् अनन्तानन्त हैं।

इन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा जीव व पुद्गल दो द्रव्य गमन शक्ति सहित होने से सक्रिय हैं। इसप्रकार जीव तथा पुद्गल भाव वाले व क्रिया वाले हैं शेष सभी द्रव्य केवल भाव वाले हैं।

पदार्थ द्रव्य स्वरूप है। द्रव्य अनन्तगुणमय है। द्रव्यों और गुणों से पर्याय होती है। पर्याय के दो प्रकार है :- (१) द्रव्य पर्याय (२) गुण पर्याय। इनमें द्रव्य पर्याय के दो भेद है :- (१) समानजातीय (२) असमानजातीय। गुण पर्याय के दो भेद हैं :- (१) अर्थपर्याय

(२) व्यंजनपर्याय। द्रव्य व गुण दोनों की ही पर्यायें स्वभाव व विभाव के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं।

सभी द्रव्यों की सूक्ष्म पर्याय जो क्षण-क्षण में नाश होने वाली है अर्थपर्याय है। षट् हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्म, परमागम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य अर्थपर्यायें होती हैं **(षड्ढानिवृद्धि रूपाः सूक्ष्माः परमागम प्रामाण्यादभ्युपगम्या अर्थपर्यायाः।** नियमसार गाथा-१६८ की टीका) सभी द्रव्य अर्थपर्यायरूप परिणमन करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इन अजीव द्रव्यों के भेद नियमसार गाथा-२० से ३३ में इसप्रकार कहे हैं :-

''परमाणु और स्कंध ऐसे दो भेद से पुद्गल द्रव्य दो भेद वाला है। स्कन्ध वास्तव में छह प्रकार के हैं – १. स्थूल-स्थूल जैसे पृथ्वी, २. स्थूल जैसे जल, ३. स्थूल-सूक्ष्म जैसे छाया, ४. सूक्ष्म-स्थूल जैसे चक्षु के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियों के विषय भूत स्कंध, ५. सूक्ष्म जैसे कर्म योग्य स्कंध और ६. सूक्ष्म-सूक्ष्म जैसे कर्म के अयोग्य स्कंध।

परमाणु के दो भेद हैं – कार्य परमाणु और कारण परमाणु। पुद्गल पदार्थ गलन द्वारा (अर्थात् भिन्न हो जाने से) परमाणु कहलाता है और पूरण द्वारा (अर्थात् संयुक्त होने से) स्कन्ध नाम को प्राप्त होता है। पूरण-गलन पुद्गल का स्वभाव है। जो एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला, ओर दो स्पर्शवाला हो वह स्वभाव-गुणवाला है। विभाव-गुणवाले पुद्गल को जिनमत में सर्व प्रगट (सर्व इन्द्रियों से जानने में आने योग्य) कहा है। दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के मिलने से बना हुआ स्कंध विभाव पुद्गल है। निश्चय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहार से स्कंध को भी पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम होता है। पुद्गल परमाणु की पर्यायें पर-निरपेक्ष होने से स्वभाव-पर्यायें हैं और स्कन्ध की पर्यायें पर-सापेक्ष होने से विभाव-पर्यायें है।

धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन का निमित्त है और अधर्म द्रव्य उन्हें स्थिति का निमित्त है, आकाश द्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को अवगाहन का निमित्त है।

कालाणु लोकाकाश में अवस्थित हैं, वे परमार्थ अर्थात् निश्चय काल द्रव्य हैं। समय और आवलि के भेद से व्यवहार काल के दो भेद हैं अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान के भेद से तीन भेद हैं।

एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो उसे दूसरा परमाणु मन्दगति से लाँघे उतना काल वह 'समय' रूप व्यवहार काल है। ऐसे असंख्य समयों का निमिष होता है। निमिष अर्थात् आँख झपके उतना काल। ८ निमिष की एक काष्ठा होती है। सोलह काष्ठा की एक कला, बत्तीस कला की एकघड़ी (२४ मिनिट), साठ घड़ी का एक अहोरात्र, तीस अहोरात्र का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है। ऐसे आवलि आदि व्यवहार काल का क्रम है।''

न्यायदीपिका में अर्थपर्याय को इन शब्दों में परिभाषित किया है – ''भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु-स्वरूप को अर्थ पर्याय कहते हैं''। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन अर्थ-पर्याय को निम्न प्रकार परिभाषित करते हैंः- **''अगुरूलघुगुण की षट् वृद्धि और हानिरूप तथा प्रतिक्षण बदलती हैं, वे अर्थपर्याय होती हैं।''**

''अर्थ कहो या गुण कहो – इन दोनों का एक ही अर्थ होने से अर्थपर्यायों को ही गुणपर्यायें भी कहते हैं। गुण में जो गुणांश होते हैं वे ही गुणपर्याय नाम से कहलाते हैं।''

(पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक-६१-६२)

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों की तो मुख्य वृत्ति से एकसमयवर्ती अर्थपर्याय ही होती है और जीव व पुद्गल में अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायें होती हैं।

द्रव्यों की अर्थ और व्यंजन पर्यायें

वाग्गम्योऽनश्वरः स्थेयान्मूर्तो व्यंजनपर्ययः।
जीव-पुद्गलयोर्द्रव्यं तन्मयं ते च तन्मयाः ॥३९॥

जीव और पुद्गल की व्यंजन-पर्यायें वाणी-गोचर।
मूर्त अनश्वर द्रव्यरूप अरु द्रव्य रहे उनसे तन्मय॥३९॥

अन्वयार्थ :- [**जीव-पुद्गलयोः व्यञ्जन-पर्ययः**] जीव और पुद्गल की व्यञ्जन-पर्यायें [**वाक्-गम्यः**] वाणी गोचर हैं, [**अनश्वरः**] अनश्वर हैं (कुछ काल तक टिकने वाली हैं), [**स्थेयात्**] स्थिर हैं तथा [**मूर्तः**] मूर्त हैं। [**द्रव्यम् तन्मयम्**] ये जीव व पुद्गल द्रव्य अपनी-अपनी अर्थ व व्यञ्जन पर्यायों से तन्मय हैं [**ते च तन्मयाः**] और वे पर्यायें द्रव्य से तन्मय हैं।

व्याख्या :- द्रव्य की अनेकरूप परिणति क्रम से हो अर्थात् अनित्य रूप, समय-समय उपजे-विनशे वह पर्याय कही जाती है। पर्याय एक के पश्चात् दूसरी इसप्रकार क्रमपूर्वक होती है, इसलिए पर्याय – द्रव्य का क्रमवर्ती विशेष कही जाती है।

आचार्य अकलंक देव के शब्दों में –**'परिसमन्तादायः पर्यायः'** (राजवार्तिक) इसप्रकार जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है। गुणों के विकार (विशेष कार्य) या परिणमन को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य के प्रदेशत्व गुण के विकार (परिणमन या कार्य) को व्यंजन पर्याय कहते हैं। व्यंजनपर्याय के दो भेद हैं – स्वभाव व्यंजनपर्याय व विभाव व्यंजनपर्याय। अन्य के निमित्त बिना जो पर्याय होती है वह स्वभाव व्यंजनपर्याय है जैसे – जीव की सिद्धपर्याय, पुद्गल की

परमाणुपर्याय। अन्य के निमित्त सहित जो पर्याय होती है, वह विभाव व्यंजनपर्याय है, जैसे – जीव की मनुष्य, नारक, तिर्यंच व देवरूप पर्यायें; मिट्टी की घट, पिण्ड आदि पर्यायें।

व्यंजनपर्याय से पदार्थ व्यक्त होता है, क्योंकि यह स्थूल है। शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है। व्यंजनपर्याय का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल असंख्यात लोकमात्र काल अथवा अनादि-अनन्त है।

''व्यक्तता का नाम व्यंजन है और प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत क्रियाकारिता है वह व्यक्ति है। उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे – मिट्टी आदि की पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं।'' (न्यायदीपिका ३/७७)

शरीर के आकाररूप से आत्मप्रदेशों का अवस्थान जीवद्रव्य की विभाव-व्यंजनपर्याय है।

प्रदेशत्व गुण के सिवाय द्रव्य के अन्य समस्त गुणों के विकार (प्रत्येक समयवर्ती होने वाली अवस्था) को अर्थपर्याय कहते हैं। बिना दूसरे के निमित्त के जो अर्थपर्याय हो उसको स्वभाव अर्थपर्याय कहते हैं जैसे – जीव के ज्ञान गुण की केवलज्ञान पर्याय। पर के निमित्त से जो अर्थपर्याय हो उसको विभाव अर्थपर्याय कहते हैं जैसे जीव के ज्ञान गुण की मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदि पर्यायें; चारित्र गुण की मोह-राग-द्वेष आदि पर्यायें। अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान विषयक है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में बदलती है। एक समय में जो अवस्था हो गयी वह अर्थपर्याय है। द्रव्य और पर्याय अभेद होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१२ में कहते हैं :-

''पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति॥

अर्थ :- पर्यायोंरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होती, दोनों का अनन्यभाव (अनन्यपना) श्रमण प्ररूपित करते हैं।''

जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि से रहित गोरस नहीं होता उसी प्रकार पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता। इसलिए द्रव्य और पर्यायों का आदेशवशात् (कथन के वश) कथंचित भेद है तथापि वे एक अस्तित्व में नियत (दृढ़रूप से स्थित) होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ती; इसीलिये वस्तुरूप से उनका अभेद है। अन्योन्यवृत्ति अर्थात् एक-दूसरे के आधार से स्थित रहना, एक-दूसरे के कारण बने रहना। (समयव्याख्या टीका)

सर्वज्ञ की वाणी से कथित सर्व पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप ही यथार्थ है। जो जीव द्रव्य-गुण को न जानते हुए मात्र पर्याय का ही अवलम्बन लेते हैं (पर्यायरूप ही पदार्थ को मानते हैं) वे निजस्वभाव को न जानते हुए परसमय (मिथ्यादृष्टि) होते हैं।

प्रवचनसार गाथा-९३ में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं **'पज्जयमूढा हि परसमया'** – पर्यायमूढ़ ही परसमय है।

चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य गुण-पर्यायमय है – ऐसे चैतन्य स्वरूप द्रव्य की सम्यक्दृष्टि को हानेवाली प्रतीति का स्वरूप कहते हैं :-

चित्स्वभाव की प्रतीति

चेतनोऽहमिति द्रव्ये शौक्ल्यं मुक्ताश्च हारवत्।
चैतन्यं चिद्भिवर्ताश्च मय्यामील्यमिलाम्यजे ॥४०॥

मोती और सफेदी दिखते भिन्न-भिन्न पर हार सभी।
मुझ चेतन में चेतन की पर्यायें एकमेक दिखतीं॥४०॥

अन्वयार्थ :- [**हारवत् शौक्ल्यं मुक्ताः च**] जिस प्रकार हार

में, हार के मोतियों की व शुक्लता की पृथक्–पृथक् प्रतीति होते हुए भी वे सब हारमय हैं, उसीप्रकार [द्रव्ये] आत्म-द्रव्य में [**'अहम् चेतनः' इति**] 'मैं चेतन हूँ' – ऐसी (प्रतीति होती है)। [**मयि अजे**] मुझ अजन्मे द्रव्य में [**चैतन्यं चिद्-विवर्तान् च आमील्य मिलामि**] चैतन्य व चैतन्य की पर्यायें एकमेक होकर प्रतीत होती हैं।

व्याख्या :- पदार्थ के द्रव्य, गुण और पर्याय में परस्पर अविनाभाव है, इस बात को सफेद मोतियों के हार द्वारा बताया गया है। जैसे मोती के हार में मोती हैं, मोतियों का शुक्लतारूप गुण है, और उनमय (मोती, शुक्लता व सफेदी) हार है, उसी प्रकार चैतन्य द्रव्य आत्मा में चैतन्यात्मक पर्यायें, उसके गुणरूप चैतन्यमय द्रव्य स्वयं है। आत्मद्रव्य इन सबके साथ तन्मय है। हार के स्थान पर आत्मद्रव्य है, शुक्लता गुण के स्थान पर है और मोती पर्याय के स्थान पर हैं। इनमय हार है। जिस प्रकार हार पहनने वाला इन सबको हार ही अनुभव करता है, उसी प्रकार यद्यपि आत्मद्रव्य गुण-पर्यायमय है, परन्तु ज्ञानी उन सबको आत्ममय ही अनुभव करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार ग्रन्थ की तत्त्वप्रदीपिका टीका (गाथा-९९) में यह भाव इसप्रकार समझाया है :-

''सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ।।

अर्थ :- स्वभाव में अवस्थित (होने से) द्रव्य 'सत्' है, द्रव्य का उत्पादव्ययध्रौव्य सहित परिणाम है, वह पदार्थों का स्वभाव है।

टीका :- प्रत्येक द्रव्य सदा अपने स्वभाव में रहता है इसलिए सत् है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप परिणाम है। जिस प्रकार द्रव्य के विस्तार में सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश प्रदेश है उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाह (कालसापेक्ष परिणमन) में सूक्ष्मतम अंश 'परिणाम'

है। प्रत्येक परिणाम (पर्याय) स्वकाल में अपनेरूप से उपजता है, पूर्वरूप से नाश को प्राप्त होता है और सर्व परिणामों में एक प्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश बिना एकरूप ध्रुव रहता है। उनमें (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में) समयभेद नहीं है – एक ही समय तीन हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यामक परिणामों की परम्परा में द्रव्य-स्वभाव से ही सदा रहता हुआ भी द्रव्य स्वयं 'शुक्ल मोतियों के हार' के समान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।''

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की गाथा-१५४ की टीका में बताते हैं कि ज्ञानी को स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिए स्वरूप अस्तित्व ही पग-पग पर अवधारणा चाहिए :–

''चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है **ऐसा जो द्रव्य**; चेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है **ऐसा जो गुण** और चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है **ऐसी जो पर्याय** – यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा पूर्व और उत्तर की दोनों पर्यायों को स्पर्श करने वाला चेतनत्व रूप से जो ध्रौव्य है और चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेक रूप से उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक (ऐसा) स्वरूप अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं हूँ। चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है, वह मैं हूँ; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा यह पुद्गल मुझसे भिन्न रहा। इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है।''

सम्यग्दृष्टि – जीवद्रव्य के (१) सत् (२) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और (३) गुण-पर्याय स्वरूप स्वभाव को जानता हुआ अपने स्वरूप को अभेदरूप 'चैतन्य-मात्र' अनुभव करता है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में '**अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योति एव सदा एव**

अस्मि' – मैं तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ। ज्ञानी प्रज्ञा द्वारा आत्मा को इसप्रकार से ग्रहण करता है कि जो चेतनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

श्लोक-३० में अद्वैत ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप बताया गया था। सत् व चित् स्वरूप के बाद अब आत्मा का आनन्द स्वभाव बताते हैं:-

आत्मिक आनन्द का स्वरूप

यश्चक्रीन्द्राहमिन्द्रादि भोगिनामपि जातु न।
शश्वत्सन्दोहमानन्दो मामेवाभिव्यनज्मि तम् ॥४१॥

इन्द्र चक्रि अहमिन्द्रों को भी जो आनन्द नहीं होता।
उस शाश्वत आनन्द को मैं अपने में ही अनुभव करता॥४१॥

अन्वयार्थ :- [**यः आनन्दः**] जो आनन्द [**चक्री-इन्द्र-अहमिन्द्र-आदि-भोगिनाम् अपि**] चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि भोगियों के भी [**जातु न**] कभी भी नहीं होता, [**तम् शश्वत् सन्दोहम्**] (आनन्द के) उस शाश्वत भण्डार को [**अहम् माम् एव अभिव्यनज्मि**] मैं अपने में ही अभिव्यञ्जित करता हूँ/प्रकट करता हूँ।

व्याख्या :- आत्मा में चैतन्य गुण के समान ही आनन्द दूसरा विशेष गुण है। योगी अपने को 'सच्चिदानन्द' (सत्-चित्-आनन्द) स्वरूप अनुभव करता है।

इन्द्रियसुख का स्वरूप व हेयता

प्रवचनसार में इन्द्रियसुख की हेयता का बहुत विस्तार से वर्णन आया है जो मूलत: पठनीय है, फिर भी यहाँ कुछ संक्षेप में सार दिया जा रहा है।

''वास्तव में सुख ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञान तथा सुख दो प्रकार

के हैं (१) इन्द्रियज (२) अतीन्द्रियज। इन्द्रियज ज्ञान तथा सुख इन्द्रियों के व्यापार द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से क्रमशः प्रवृत्त होने वाला, प्रतिपक्ष (ज्ञान का अज्ञान व सुख का दुःख) सहित और हानि-वृद्धि सहित होता है। इन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र, मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) आदि परोक्षज्ञान वालों को इन्द्रियज सुख स्वाभाविक है। इन प्राणियों को परोक्षज्ञान की सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति स्वभाव से ही मैत्री प्रवर्तती है। इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को मोहनीय कर्म जिसमें निमित्त है ऐसी इन्द्रिय पीड़ा – इन्द्रिय विषयों को भोगने की अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न होती है। उस दुःख के वेग को सहन न कर सकने से उन्हें व्याधि के प्रतिकार समान थोड़ा-सा आराम जैसा अनुभव कराने वाले उपचार के समान, रम्य-विषयों में रति (प्रीतिभाव) उत्पन्न होती है। वे इन्द्रिय विषयों में वासना से पीड़ित वर्तते हुए उस दुख को सहन न कर पाने से रम्य-विषयों में रमण करते हैं। इन्द्रियाँ व्याधि के समान होने और विषय व्याधि के प्रतिकार के समान होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं हैं। जिन्हें विषयों में रति है उन्हें दुख स्वाभाविक है। इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करने की इच्छा का यदि दुःखरूप स्वभाव न हो तो इन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्रादि का इन्द्रिय-विषयों में व्यापार ही न हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज सुख वास्तव में दुःख स्वभावरूप ही है। विषय-ग्रहण से पूर्व विषय ग्रहण की इच्छारूप वेदना होती है। इच्छानुकूल विषय मिलने पर इच्छा – वेदना का शमन ही इन्द्रिय सुख का स्वरूप है। यह पारमार्थिक सुख नहीं है।

इन्द्रियज ज्ञान व सुख (१) पर के द्वारा उत्पन्न होने से पराधीनता के कारण, (२) असमंत (सर्व आत्म प्रदेशों में व्याप्त न होने से) दूसरे द्वारों (इन्द्रिय द्वार) के आवरण के कारण (३) मात्र कुछ पदार्थों में

प्रवर्तमान होता हुआ अन्य पदार्थों को जानने-भोगने की इच्छा बनी रहने के कारण (४) समल (कर्ममल युक्त) होने से और (५) अवग्रहादि सहित होने से क्रमशः पदार्थ-ग्रहणजनित खेद के कारण (इन कारणों से) अत्यन्त आकुल है, इसलिये वह पारमार्थिक सुख नहीं है। वह हेय है, छोड़ने योग्य है।''

इष्टोपदेश श्लोक-६ में आचार्य पूज्यपाद इन्द्रियसुख का स्वरूप इसप्रकार बताते है :-

''वासनामात्रामेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथाह्युद्रेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि॥

श्लोकार्थ :- देहधारियों को वह सुख-दुःख वासनामात्र ही होता है। तथा वह सुख-दुखरूप भोग, आपत्ति के समय रोगों की तरह प्राणियों को आकुलित करते हैं।''

आचार्य योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश गाथा-२६१ में कहते हैं :-

''विषय-सुहइँ बे दिवहड़ा पुणु दुक्खहँ परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि॥

अर्थ :- दो दिन के क्षणिक विषयसुख, बाद में दुःखों की परम्परा देते हैं। अतः हे भ्रान्तजीव ! तुम अपने कंधे पर कुल्हाड़ी मत चलाओ, इनमें उलझ कर आत्मघात मत करो।''

अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप व उपादेयता

प्रवचनसार में अतीन्द्रियसुख की उपादेयता का भी बहुत विस्तार से वर्णन आया है जो मूलत: पठनीय है, यहाँ उसका भी कुछ संक्षेप में सार दिया जा रहा है।

''दूसरा ज्ञान व सुख अमूर्त व अतीन्द्रिय है। यह आत्मा के चैतन्य स्वभाव के अनुसार वर्तने वाली – चैतन्य के अनुकूलरूप से

वर्तने वाली आत्मशक्तियों से अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है। यह आत्म-परिणाम शक्तियों से, अपनी पर्याय में इन्द्रियों के आश्रय बिना होने से, अतीन्द्रिय स्वाभाविक चिदाकार परिणामों से उत्पन्न होने से, अत्यन्त आत्माधीन, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि रहित है।

शुद्ध अन्तःतत्त्व सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परम वीतराग सुखात्मक है। चार घातिया कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का शाश्वत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवल सुख-केवलशक्तियुक्त फल अनन्तचतुष्टयरूप प्रगट होता है। केवलज्ञान के साथ समुत्पन्न अनन्त सुख ही वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। योगी इस सुखरूप ही अपने को सदा अनुभव करते हैं।''

प्रवचनसार गाथा-५९ में आचार्य कुन्दकुन्द केवलज्ञान को ही पारमार्थिक सुखरूप बतलाते हैं :-

''जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं॥

अर्थ :- अपने आप ही उत्पन्न, समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ), अनन्त पदार्थों में विस्तृत, विमल और अवग्रहादि से रहित ऐसा ज्ञान ऐकान्तिक सुख है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।''

प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल होने से वास्तव में वह पारमार्थिक सुख है। सहज ज्ञानस्वभाव स्वयं उत्पन्न होने से आत्माधीन है। समस्त आत्मप्रदेशों में व्याप्त होने से समंत है। समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने अर्थात् निःशेष रूप से सर्व पदार्थों को युगपत् जानने से किसी पदार्थ को जानने की इच्छा से रहित होने से विस्तृत है। अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा स्वभाव में व्याप्त होने से विमल है, सर्व पदार्थों को सम्यक्रूप से जानता है। लोकालोक में व्याप्त

होकर रहने से अनन्त विविधतामय समस्त पदार्थ समूह युगपत् जानने में आता है। उपरोक्त पाँच कारणों (आत्माधीन, समंत, विस्तृत, विमल व युगपत् प्रवर्तमान) से प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल है, इसलिए वह पारमार्थिक सुख है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-६० में कहते हैं कि केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है :-

''जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा॥

अर्थ :- जो 'केवल' नाम का ज्ञान है वह सुख है, परिणाम भी वही है, उसे खेद नहीं कहा है, (अर्थात् केवलज्ञान में सर्वज्ञ देव ने खेद नहीं कहा है) क्योंकि घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं।''

केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है यह सर्वथा अनुमोदन करने योग्य है। क्योंकि (१) घातिकर्म के अभाव के कारण (२) परिणमन कोई उपाधि न होने से और (३) केवलज्ञान निष्कम्प, स्थिर, अनाकुल होने से सुख स्वरूप ही है। स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेदविवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।

केवलज्ञान सुख ही है, क्योंकि सर्व अनिष्टों का नाश हो चुका है और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है; सुखोपलब्धि के विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए केवलज्ञान ही सुख है। ज्ञानी अपने को इस सुख-स्वरूप अनुभव करता है।

आचार्य नागसेन ने तत्त्वानुशासन श्लोक-२४६ में इन्द्रिय सुख व अतीन्द्रिय सुख की तुलना इसप्रकार की है :-

''यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां॥

अर्थ :- इस संसार में चक्रवर्तियों और स्वर्ग में देवों को जो सुख मिलता है, वह परमात्माओं (केवली) के सुख की एक कला के समान भी नहीं हो सकता।''

इसलिए योगी को केवल एक ही पद आस्वादन करने योग्य है – ऐसा आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी समयसार कलश-१३९ में कहते हैं:-

''एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः॥

अर्थ :- वह एक ही पद (सत्-चित्-आनन्द स्वरूप) आस्वादन के योग्य है, जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमें आपदाएँ स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके आगे अन्य सर्वपद अपद ही भासित होते हैं।''

एक ज्ञायक भाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ स्वसंवेदनरूप ज्ञान नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है इसलिए वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

अब अद्वैत ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूप की प्रगट प्रसिद्धि का उपाय कहते हैं :-

आत्मविकास का उपाय

अविद्यां विद्यया मय्याप्युपेक्षा-संज्ञयाऽसकृत्।
कृन्ततो मदभिव्यक्तिः क्रमेण स्यात्परापि मे ॥४२॥

यह अज्ञान उपेक्षा नामक विद्या से हो सतत विनष्ट।
मुझमें मुझ स्वरूप की क्रमशः प्राप्ति चरम सीमा पर्यन्त॥४२॥

अन्वयार्थ :- [**मयि अविद्याम्**] मुझ में विद्यमान अविद्या को [**उपेक्षा-संज्ञया विद्यया**] 'उपेक्षा' नामक विद्या के द्वारा [**असकृत् कृन्ततः**] निरन्तर काटते हुए [**मद्-अभिव्यक्तिः मे**] मुझमें मेरे स्वरूप

की प्राप्ति [**क्रमेण 'परा' अपि स्यात्**] क्रम से चरम सीमा को भी प्राप्त हो जाएगी।

व्याख्या :- जब स्वात्मा अपने में ज्ञान-आनन्द जैसे सातिशय गुणों का अनुभव करता है उसके साथ ही यह समझ भी आती है कि इन गुणों का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है। उसका कारण अपनी अविद्या को समझता है। उस अविद्या के नाश करने के उपाय सोचता है। उपेक्षा द्वारा ही अविद्या का नाश होता है। कर्म के उदय से न जुड़ना ही उपेक्षा है। उपेक्षा द्वारा रागादि भावों का क्रमपूर्वक अभाव करने से गुण संपूर्णरूप से प्रकाशित होते हैं।

राग, अल्पज्ञता व निमित्त उपेक्षा करने योग्य हैं। वस्तु स्वरूप को जैसा है वैसा जानकर, ज्ञान निज-शुद्धात्मा में एकाग्र होने पर राग अथवा विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, यह ही चित्तनिरोध या उपेक्षा नाम की विद्या है। योगी सर्व परपदार्थों के राग को छोड़ कर, अत्यन्त वीतराग होकर, शुद्ध स्वरूप का अवगाह कर आत्म गुणों के सतत् विकास द्वारा राग व अल्पज्ञता का सम्पूर्ण अभाव कर, आत्म विकास की चरम-अवस्था (निर्वाण) को प्राप्त होता है।

साधक अवस्था में शुभ क्रियाकाण्ड परिणति हठरहित सहजरूप से भूमिकानुसार वर्तती होने पर भी, योगी अन्तरंग में उसे माहात्म्य न देते हुए, अत्यन्त उदासीन वर्तते हुए, यथाशक्ति आत्मा को आत्मा में अनुभवते हुए नित्य उपयुक्त रहता है। स्वतत्त्व में स्थिरता बढ़ने के साथ शुभभाव की उत्पत्ति रुकती जाती है, स्वरूपानन्द बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों स्वरूप-स्थिरता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों रागादि विकल्पों की उत्पत्ति रुकती जाती है। इसप्रकार योगी कर्मानुभूति के प्रति निरुत्सुक वर्तते हुए कर्मफलानुभूति अत्यन्त निरस्त करके तात्त्विक आनन्द से भरपूर वर्तते हुए शीघ्र निर्वाण सुख के भोक्ता बनते हैं।

स्वात्म-संवित्ति होने पर उपेक्षा का स्वरूप आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश श्लोक-४० में इसप्रकार कहते हैं:-

''इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽऽदरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं।।

अर्थ :- स्वात्मसंवित्ति के जागृत हो जाने पर यह आत्मा बड़े आदर से, किसी प्रकार से मनुष्यों का संचार न हो ऐसे एकान्त स्थानों में रहने की इच्छा करने लगता है और निजकार्य के वश से कुछ बोलने पर भी शीघ्र ही उसे भूल जाता है।''

प्रश्न है कि 'संवित्ति हो रही है' – यह बात योगी को किस तरह मालूम हो सकती है ? प्रतिक्षण उपेक्षा नाम की विद्या से परिणति में विद्यमान अविद्या-अज्ञता का नाश हो रहा है – यह भी कैसे जाना जा सकता है ? इस जिज्ञासा का उत्तर आचार्य पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश के श्लोक ३६ से ४४ की टीका में पं.आशाधरजी ने ही दिया है:-

''ज्यों-ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभव होता है, त्यों-त्यों उस योगी को सुलभ (आसानी से प्राप्त) विषय भी अच्छे नहीं लगते। जैसे-जैसे योगी को स्वानुभवरूप संवेदन में शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है, सम्मुख आता है, वैसे-वैसे बिना प्रयास के सहज में ही प्राप्त होने वाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी भोग्यबुद्धि (भोगने की लालसा) पैदा नहीं कर पाते हैं। दुनिया में भी देखा गया है कि महान सुख की प्राप्ति हो जाने पर अल्प सुख पैदा करने वाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्यभाव नहीं रहता।'' अन्यत्र भी कहा है:-

''समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्गपुनरङ्गमङ्गाराः।।

श्लोकार्थ : समतारूपी सुख का अनुभव करने वाले मनुष्य को

समता से च्युत होना ही अच्छा नहीं लगता, तब पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तो बात ही क्या? अर्थात् वे वहाँ कैसे रम सकते हैं? नहीं रम सकते। जैसे मछलियों को ठंडी भूमि भी जलाती है तो अग्नि-अंगारों का तो कहना ही क्या? वे तो जलायेंगे ही। इसलिए विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्मसंवित्ति का लक्षण है।''

स्वात्म-संवित्ति का अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती। ज्यों-ज्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है, त्यों-त्यों सहज में भी प्राप्त होने वाले इन्द्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं।

योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है। वह आत्मस्वरूप प्राप्ति की ही अभिलाषा करता है। यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाय या लग जाय तो पश्चाताप करता है। वह सदा चिदानन्द स्वरूप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है। अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में पहले संस्कार आदि कारणों से यदि मन से, वचन से या काया से प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँ से हटकर खुद ही पश्चाताप करता है, कि ओह ! यह मैंने कैसे आत्मा का अहित कर डाला।

जिसने आत्मस्वरूप में विशेष स्थिरता प्राप्त करली है – ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता। संस्कारों के वश से या दूसरों के संकोच से धर्मादि का व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि उनको बोलने की ओर का झुकाव नहीं होता।

अनासक्त योगी भोजन के लिए जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादि को देखते हुए भी नहीं देख रहा है यही समझना चाहिये।

योग परायण योगी – यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादि भेदरूप विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता। यह अनुभव में आ रहा अन्तस्तत्व किस रूप वाला है ? किसके सदृश है ? इसका स्वामी कौन है ? किससे होता है ? कहाँ पर रहता है ? इत्यादि विकल्पों को न करता हुआ समरसी भाव को प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिन्ता करने की बात ही क्या है ?

''केवलज्ञानादि अनन्तगुणमयी आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानियों के मन में नहीं रुचती। जिसने मरकतमणी जान लिया, उसे कांच से क्या प्रयोजन ?'' (परमात्मप्रकाश गाथा-२०२)

सभी जानते हैं कि जो मनुष्य जिस नगरादि में स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से या बन्धुजनों के आग्रह से निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटाकर आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। और जो जहाँ आनन्द का अनुभव करता रहता है अर्थात् वह जहाँ रमने लग जाता है, वहाँ से दूसरी जगह नहीं जाता। इसीप्रकार आत्मा में – अध्यात्म में रहने वाले योगी को अननुभूत (जिसका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्द का अनुभव होते रहने से उसकी आत्मा से भिन्न प्रवृत्ति नहीं होती।

स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ परम एकाग्रता को प्राप्त योगी जब अध्यात्म से भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब तक उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है और जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग-द्वेष पैदा न होने के कारण कर्मों से बँधता नहीं है, अपितु बाल-व्रतादि का आचरण करने वालों की अपेक्षा कर्मों से भी ज्यादा छूटता है।

योगी का स्वरूप संचेतन

समस्तवस्तुविस्ताराकारकीर्णोपि पर्ययात्।
द्रव्यार्थादेक एवास्मि वाच्यः कस्यापि नार्थतः ॥४३॥

पर्यायों से सभी वस्तु-विस्तारूप आकार अनेक।
द्रव्य दृष्टि से किसी शब्द का वाच्य नहीं मैं हूँ नित एक॥४३॥

अन्वयार्थ :- [**पर्ययात्**] पर्यायदृष्टि से [**समस्त-वस्तु-विस्तार- आकार-आकीर्णः अपि**] समस्त वस्तुओं के विस्तार रूप आकारों से परिपूर्ण होनेके कारण अनेकाकार (मेचक) दिखाई देने पर भी [**द्रव्यार्थात्** (अहम्) **एकः एव अस्मि**] द्रव्यदृष्टि से मैं एक ही हूँ। [**अर्थतः** (अहम्) **कस्य अपि शब्दस्य वाच्यः न**] निश्चय से मैं किसी भी शब्द का वाच्य नहीं हूँ।

व्याख्याः- आत्मसन्मुख जीव ऐसा विचार करता है कि अनादिकाल से अनन्तपर्यायों की दृष्टि से सर्वपर्याय आकारों में मैं एक द्रव्यरूप हूँ, सब पर्यायों में एक ही द्रव्यरूप से रहा हूँ। इसलिए मेरा स्वरूप वस्तुतः किसी शब्द का वाच्य नहीं है।

किसी भी वस्तु के प्रति एकाग्र होकर उसी का स्वाद लिया करना वह उसका संचेतन है। ज्ञान (आत्मा) के प्रति एकाग्र होकर उस ही का अनुभवरूप स्वाद लिया करना ज्ञान का संचेतन है अर्थात् ज्ञान-चेतना है।

योगी (मोक्षार्थी) के मन के अभिप्राय को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार कहते हैं :- **'अहं शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि'** – मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ।)

– समयसार कलश-१८५

योगी को निजशुद्धात्मा एकरूप प्रतिभासमान है। जिस प्रकार नमक की डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है उसी

प्रकार जो तेज एक ज्ञानरसरूप स्वरूप का आलम्बन करता है, वह अखण्डित है – ज्ञेयों के आकारों से खण्डित नहीं होता, अनाकुल है – रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशी रूप से अन्तरंग और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है – जानने में आता है, जो स्वभाव से रचा होने से सहज है, सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव है।

अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश-१५ में कहते हैं कि इस एक का ही सेवन (अनुभव) करना चाहिये :-

''एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥

अर्थ :- यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य-साधक भाव के भेद से दो प्रकार (पूर्ण रूप साध्यभाव व अपूर्ण रूप साधकभाव) से एक ही नित्य सेवन करने योग्य है, उसका सेवन करो।''

अनुभव करनेयोग्य निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु है। नय विकल्पों में शुद्ध जीव का अनुभव खो जाता है। यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधा जाता है, तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो पूर्णस्वभाव आत्मा प्रगट नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र भी समयसार कलश-२७० में कहते हैं:-

''चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि॥

अर्थ :- अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है, इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को निराकृत (दूर) नहीं किया गया है, तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है और अचल है – ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।''

जयसेनाचार्य समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका (गाथा-३४१) में ज्ञानी के भाव को इन शब्दों द्वारा कहते हैं:-

''ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निज परमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थ'

अर्थः- ध्याता पुरुष ऐसी भावना करता है कि जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षणवाला निज परमात्मद्रव्य है, वही मैं हूँ, किन्तु खण्डज्ञानरूप मैं नहीं हूँ – ऐसा भावार्थ है।''

अब कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि सम्पन्न योगी शुद्धात्म भावना बढ़ाने के लिए शब्दब्रह्म का आश्रय लेता है :-

आत्म संस्कार का उपाय

तदेव तस्मै कस्मैचित्परस्मै ब्रह्मणेऽमुना।
सूक्ष्मेनेदं मनः शब्द ब्रह्मणा संस्करोम्यहम् ॥४४॥

वचन-अगोचर परम-ब्रह्म की प्राप्ति हेतु अब इस मन को।
मैं इस सूक्ष्म शब्द ब्रह्म के द्वारा संस्कारित करना॥४४॥

अन्वयार्थ :- [**तदेव**] उस कारण से [**तस्मै कस्मैचिद् परस्मै ब्रह्मणे**] उस किसी अनिर्वचनीय परब्रह्म (परमोत्कृष्ट आत्मपद) की प्राप्ति के लिए [**अहम् अमुना सूक्ष्मेण शब्द-ब्रह्मणा**] मैं इस सूक्ष्म

शब्द-ब्रह्म के द्वारा [**इदम् मनः संस्करोमि**] इस मन को संस्कारित करता हूँ।

व्याख्या :- आत्मा को पूर्व श्लोक में वचन के अगोचर, वचन द्वारा वाच्य नहीं है – ऐसा प्रतिपादित किया गया है, फिर भी परब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'सोऽहं' इस सूक्ष्म शब्दब्रह्म द्वारा योगी मन को संस्कारित करता है।

श्लोक-४२ में कहा कि उपेक्षा नाम की विद्या से अविद्या – अज्ञता का नाश होता है। क्रम-क्रम से अज्ञता का नाश कर योगी चरमसीमा को प्राप्त हो जाता है। अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त करने के लिए योगी 'सोऽहं' ऐसे सूक्ष्म शब्द ब्रह्म से संस्कार डालता है। उस परमात्म पद में भावना करते रहने से वह 'अनन्तज्ञान स्वरूप परमात्मा मैं हूँ' इसप्रकार के संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ उसी परमात्म-स्वरूप में संस्कार की दृढ़ता के हो जाने से निश्चय से अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है।

योगी 'सोऽहं' इस शब्दब्रह्म द्वारा शुद्धात्मभावना करता हुआ अविद्या (विभावपरिणति) का नाश करता हुआ चैतन्यस्वरूप में स्थिरता प्राप्त करता जाता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव रागादि अशुद्धपरिणति मेटकर ही होता है। अशुद्ध परिणति का विनाश शुद्ध स्वरूप के अनुभव से होता है। शुद्धात्म-भावना से जितनी अशुद्ध परिणति मिटती जाती है, उतनी स्वरूप-स्थिरता बढ़ती जाती है, और जितनी स्वरूप-स्थिरता बढ़ती जाती है उतनी अशुद्ध परिणति मिटती जाती है। इस क्रम में योगी के अशुद्ध परिणति का समग्र विनाश होकर अनन्तचतुष्टयरूप परमपद प्राप्त हो जाता है।

योगी निज शुद्धात्मा की उपासना करता हुआ अपने चित्त को

इतना संस्कारित कर लेता है कि वह सुप्त और उन्मत्त अवस्था में होने पर भी शुद्धात्म भावना से रहित नहीं होता।

वह अन्तरात्मा दृढ़तर अभ्यास के बल पर उस अवस्था में भी विशिष्ट कर्मनिर्जरा करता है। यह कर्मनिर्जरा मुक्ति के कारणरूप होती है। 'सोऽहं' शब्दों के वाच्य निज शुद्धात्मा की उपासना करके योगी पर्याय में अतीन्द्रिय आत्मानन्द प्रगट करता है। इन शब्दों द्वारा अपने स्वरूप को हृदय में स्थापित करके और उसे निरन्तर ध्याकर अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है। निजस्वरूप अवलोकन से दुःख-द्वंद्व विलीन हो जाता है।

शब्दब्रह्म द्वारा परंब्रह्म की उपासना

हृत्सरोजेऽष्ट पत्रेऽधोमुखे द्रव्यमनोऽम्बुजे।
योगार्क-तेजसा बुद्धे स्फुरन्नस्मि परं महः ॥४५॥

आठ पंखुड़ी युक्त अधोमुख कमल-द्रव्यमन-उर सर में।
खिला योग-रवि से, उसमें स्फुरित परम ज्योर्तिमय मैं॥४५॥

अन्वयार्थ :- [**हृत्-सरोजे**] हृदय रूपी सरोवर में [**अष्टपत्रे अधोमुखे**] आठ पंखुड़ियों वाले अधोमुख [**योग-अर्क-तेजसा बुद्धे**] योग रूपी सूर्य के प्रकाश से खिले हुए [**द्रव्य-मनोऽम्बुजे**] द्रव्य-मन रूपी कमल में [**स्फुरन् परं महः** (अहम्) **अस्मि**] स्फुरायमान होने वाली परमज्योति (मैं) हूँ।

व्याख्या :- सूक्ष्म शब्द ब्रह्मरूप 'सोऽहं' की भावना से अपने मन को संस्कारित करते हुए ध्यानावस्था में आत्मा यह अनुभव करता है कि आठ पंखुड़ियों वाला अधोमुख द्रव्यमनरूप कमल योगात्मक (ध्यान रूप) प्रकाश से खिल गया है और उसमें जिस परमज्योतिरूप प्रकाश का दर्शन होता है, वह मैं हूँ।

''जहाँ इन्द्रिय-विकार विलय को प्राप्त हुआ है, मन विकार रहित होकर, अनाकुल सुख समाधि जागी है 'अहं ब्रह्म' 'अहं अस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ; मैं हूँ) ऐसी ब्रह्म प्रतीति की भावना में, स्थिरता में समाधि हुई, वहाँ आनन्द हुआ। वहाँ पहले तो कुछ काल तक अहं (मैं) ऐसा भाव रहता है। पश्चात् समाधि से 'अहंपना' तो छूटे और अस्मि अर्थात् 'हूँ' ऐसा भाव रहे; वहाँ 'दर्शन-ज्ञानमय हूँ, मैं समाधि में लगता हूँ' ऐसे 'मैं' का रहना भी विचार है।

वह विकल्प (द्रव्यश्रुत वितर्कपना) मिटकर स्वरूप में एकत्व हुआ। एकतान रस रूप में मन लीन होकर समाधि लगी, वहाँ विचारभेद मिटा। वीतरागरूप अनुभव स्वसंवेदन भाव हुआ। एकत्व चेतना में मन लगा, लीन हुआ, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्द का अभाव होने से स्वभाव दर्शन (स्वभाव ज्ञान) का रसास्वाद करने से आनन्द में वृद्धि हुई, वहाँ जो 'अस्मिभाव' ज्ञानज्योति में था वह भी थका (अटका, शान्त हुआ)।

वहाँ अनन्त गुण के रस को पुनः परिणाम में वेदन कर समाधि लगी। स्वरूप रस का स्वाद चढ़ता जाय, तब शुद्धोपयोग स्वरस पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो, तब आत्मा कृत-कृत्य होकर रहे।'' (अनुभवप्रकाश-समाधि वर्णन)।

इसप्रकार शब्दब्रह्म द्वारा परंब्रह्म की उपासना होती है। यह ही योगभक्ति है।

योगभक्ति में जैसे-जैसे साधक तन्मय होता जाता है वैसे-वैसे चारित्रादि आत्मगुणों की अनेक शक्तियाँ पुद्गल वर्गणा के आच्छादन और चित्-विकार से मुक्त होकर साक्षात् निज-निज स्वभाव शक्तिरूप होती जाती हैं। इसप्रकार समय-समय में चारित्रादि शक्तियों का मुक्तरूप होने का प्रवाह प्रति समय बढ़ता

जाता है। उसे ही यहाँ योगरूप सूर्य (ध्यान) के तेज से द्रव्यमनरूप कमल का खिलना कहा है।

इसप्रकार 'मैं-मैं' परिणामों ने स्वपद की आस्तिक्यता की।

आत्मानुभूति (स्व-संवेदन) की दशा

ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशाऽस्तेऽक्ष-मनोऽनिले।
शून्योप्यन्यैः स्वतोशून्यो मया दृश्येयमप्यहम् ॥४६॥

मोहक्षीण होने पर इन्द्रिय-मन वायु भी होती अस्त।
पर से शून्य अशून्य स्वयं से अन्तर्दृष्टि से मैं दृश्य॥४६॥

अन्वयार्थ :- [**मोह-तमसि ध्वस्ते**] मोह रूपी अन्धकार के ध्वस्त हो जाने पर तथा [**अक्ष-मनो-अनिले अस्ते**] इन्द्रिय व मन रूपी वायु (वायु के समान चञ्चल इन्द्रिय व मन) के अस्त हो जाने पर, [**अहम् अन्यैः शून्यः अपि स्वतः अशून्यः**] मैं अन्य द्रव्यों से शून्य होने पर भी स्वयं से अशून्य हूँ, [**इयम्** (परम् महः) **मया अन्तर्दृशा दृश्या**] यह परंज्योति मुझे अन्तर्दृष्टि से देखने योग्य है।

व्याख्या :- जब मोहान्धकार नष्ट होता है अर्थात् मोह भाव का अभाव हो जाता है, इन्द्रियों और मन का व्यापार रुकता है तब कुछ क्षणों के लिए अन्तर्दृष्टि से आत्मा के द्वारा आत्मा का शुद्धस्वरूप दिखाई पड़ता है अर्थात् अनुभव में आता है। जो अन्य पर-पदार्थों से शून्य होते हुए भी अपने सहज दर्शन, सहज ज्ञान, सहज सुख, सहज वीर्य आदि गुणों से शून्य नहीं है, किन्तु परिपूर्ण है। इसप्रकार ध्यानमग्न आत्मा, निज आत्मा का अनुभव करता है।

तत्त्वानुशासन श्लोक-१७२,१७३ में आचार्य नागसेन कहते हैं:-

''तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः॥

अत एवान्य शून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।
शून्याशून्य स्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ।।

अर्थ :- उस समय परम-एकाग्रता धारण करने से वह योगी अपने आप में केवल अपने आत्मा को ही देखता है और इसीलिए बाह्य पदार्थों के रहते हुए भी उसे आत्मा के सिवाय अन्य कुछ दिखाई नहीं पड़ता। इसलिये अन्य पदार्थों से शून्य होकर भी यह आत्मा अपने स्वरूप से शून्य नहीं हो सकता है। अतएव शून्याशून्य स्वभाव वाला यह आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है। यह अवस्था मोह रूपी अन्धकार का नाश और इन्द्रिय व मन का व्यापार रुकने पर होती है।''

अब कहते हैं कि योगभक्ति से योगी स्वयं संवर व निर्जराभाव-रूप परिणमता है :-

परम एकाग्रता से संवर-निर्जरा

मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे ।
भजे मत्कन्दमानन्दं निर्जरा-संवरावहम् ।।४७।।

इस प्रकार मैं लखूँ स्वयं को निज में ही होता एकाग्र ।
संवर-निर्जर रूप स्वयं हो भोगूँ मैं आत्मज आनन्द ।।४७।।

अन्वयार्थ :- [**तथा**] उपर्युक्त प्रकार से [**अहम् माम् एव पश्यन्**] मैं अपने आपको ही देखता हुआ [**परम् ऐकाग्र्यम् अश्नुवे**] परम् एकाग्रता को प्राप्त होता हूँ और [**मत्कन्दम् आनन्दम् भजे**] आत्मोत्थ आनन्द को भोगता हूँ। [(एवम्) **अहम्** (एव) **निर्जरा-संवरौ**] इस प्रकार मैं ही निर्जरा व संवर रूप होता हूँ।

व्याख्या :- मोहांधकार का नाश होने पर और इन्द्रिय व मन का व्यापार रुकने पर आत्मा को आत्मा का दर्शन होता है, शून्याशून्य स्वभावी आत्मा उपलब्ध होता है। उपर्युक्त प्रकार से अपने में ही

अपना दर्शन करता हुआ आत्मा परम-एकाग्रता को प्राप्त होता है और आत्माश्रित अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। इसके फल स्वरूप वह आत्मा निर्जरा व संवर दोनों भावों को प्राप्त होता है। इस भाव से नवीन कर्मों का बंध रुकता है और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है।

जिस समय यह आत्मा अहंकार और ममकार आदि भावों को नष्ट कर एकाग्रता से अपने को देखता है उस समय अनेक इकट्ठे किये हुए पापों का नाश करता है और आगामी आनेवाले कर्मों का संवर भी करता है। (तत्त्वानुशासन श्लोक-१७८)

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-१२७ में कहते हैं :-

''यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
पर परिणति रोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥

अर्थ :- यदि किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है, ऐसे आत्मा को परपरिणति के निरोध से शुद्ध ही प्राप्त करता है।''

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-१८७ से १८९ में संवर का उपाय इसप्रकार बताते हैं:-

''अप्पाणमप्पणा रूंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥

अप्पाणे झायंतो दंसण णाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं॥

अर्थ :- आत्मा को आत्मा के द्वारा पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य (वस्तु) की इच्छा से विरत होता हुआ जो आत्मा सर्वसंग से रहित होता हुआ (अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म-नोकर्म को नहीं ध्याता एवं स्वयं चेतयिता होने से एकत्व का ही चिन्तवन करता है – चेतता है – अनुभव करता है वह आत्मा, आत्मा को ध्याता हुआ दर्शन-ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्मों से रहित शुद्ध-आत्मा को प्राप्त करता है।''

जो इस भेदविज्ञान की शक्ति द्वारा निजमहिमा में लीन रहते हैं उन्हें नियम से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होती है; शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर अचलित रूप से समस्त अन्यद्रव्यों से दूर वर्तते हुए ऐसे उनके अक्षय मोक्ष होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप में एकाग्रता रूप से मग्न होता हुआ, शुद्धोपयोग परिणतिरूप परिणमता है, उसी काल कर्मबन्ध से मुक्त होता है। वस्तु स्वरूप को ज्यों का त्यों जानकर जहाँ ज्ञान आत्मा में एकाग्र होता है, वहाँ राग अथवा विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसी का नाम चित्त के निरोधरूप ध्यान है अथवा योग है। मैं चैतन्यमय स्वभाव हूँ इस तरह अस्तिस्वभाव की ओर ज्ञान का बल देने से सहज ही चित्त का निरोध होता है और स्वभाव की ओर एकाग्रता के जोर से राग का – विकल्प का अभाव हो जाता है, सर्व विकल्प सहज विलय को प्राप्त होते हैं और अनन्तधर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्रकृत समयसार की आत्मख्याति टीका में

समागत कलश-२४० की टीका करते हुए कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी कहते हैं :-

''एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥

अर्थ :- जो सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु में एकाग्र होकर स्थिरता करता है तथा शुद्ध चिद्रूप को निरन्तर अनुभवता है, बार-बार उस शुद्ध स्वरूप का स्मरण करता है और वह कर्म के उदय से नाना प्रकार की अशुद्ध परिणति को सर्वथा छोड़ता हुआ, शुद्ध चिद्रूप में एकाग्र होकर अखण्ड धाराप्रवाहरूप प्रवर्तता है, जो यह ज्ञान के प्रत्यक्ष दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही है सर्वस्व जिसका ऐसा है। जिसके शुद्धस्वरूप परिणमन करने पर सकल कर्मों का क्षय होता है वह समस्त विकल्प से रहित है। वह नित्य उदयरूप शुद्ध चैतन्यमात्र को अति ही थोड़े काल में आस्वादता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखने पर जैसा है वैसा ही है, उससे हीनरूप नहीं, अधिक नहीं है।''

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-२४४ में एकाग्रता को ही मोक्षमार्ग निश्चित करते हैं :-

''अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोस मुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि॥

अर्थ :- यदि श्रमण पदार्थों में मोह नहीं करता, राग नहीं करता और न द्वेष को प्राप्त होता है, तो वह नियम से विविध कर्मों को खपाता है।''

जो योगी ज्ञानस्वभावी एक अग्र (निज शुद्धात्मा) को भाता

है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता, वह स्वयमेव ज्ञानी रहता हुआ स्वयं संवर-निर्जराभावरूप परिणमन करता हुआ, आत्मोत्थ आनन्द को भोगता हुआ मुक्त ही होता है, बँधता नहीं है।

श्रीमद् अमितगति आचार्य योगसार प्राभृत श्लोक-३८ में कहते हैं :-

''चरित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरंजनम्।
कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशय:॥

अर्थ :- निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह आत्मा का स्वभाव है। इस आत्म स्वरूप/स्वभाव को ध्याते हुए योगी कर्मों से छूट जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।''

शास्त्रों में शुद्धात्मा का ध्यान दो प्रकार से कहा गया है – साधन भाव से और साध्यभाव से। शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा का ध्यान करना चाहिये – यह कथन साधनभाव का हुआ। 'शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिये – यह कथन साध्यभाव का हुआ। जैसा समयसार गाथा-१६ में कहा गया है, 'साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।'

आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं। इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही ध्याने योग्य है।

अब कहते हैं कि योगभक्ति प्राप्त साधक को अपनी पूर्व परिणति का खेद वर्तता है –

योगी का पूर्व परिणति पर खेद

अनन्तानन्तचिच्छक्ति - चक्रयुक्तोऽपि तत्त्वत:।
अनाद्यविद्या - संस्कारवशादक्षैर्बहि: स्फुरन्॥४८॥

यदा यदधितिष्ठामि तदा तत्स्वतया वपुः।
विद्वांस्तद्वृद्धि-हानिभ्यां स्वस्य मन्ये चयक्षयो ॥४९॥

वास्तव में चित्शक्ति अनन्तानन्त युक्त होने पर भी।
मैं अनादि संस्कार-अविद्या वश इन्द्रिय-मन द्वारा ही॥४८॥
बहिर्जगत में लीन रहा जिस तन में स्थिर रहता हूँ।
उसमें अपनापन करके तद् वृद्धि-हानि अपनी मानूँ॥४९॥

अन्वयार्थ :- [**तत्त्वतः**] शुद्ध-निश्चयनय से [**अनन्तानन्त-चित् शक्ति-चक्र युक्तः अपि** (अहम्)] अनन्तानन्त-चैतन्य शक्ति के समूह से युक्त होने पर भी मैंने [**अनादि-अविद्या-संस्कारवशात्**] अनादिकालीन अविद्या के संस्कार-वश [**अक्षैः बहिः स्फुरन्**] इन्द्रियों (व मन) द्वारा बहिर्जगत् में स्फुरायमान होते हुए (लीन होते हुए) [**यदा यत् वपुः अधितिष्ठामि**] जिस शरीर में स्थित रहा, [**तदा तत् स्वतया विन्दन्**] उस शरीर को अपने रूप जानते हुए [**तद्-वृद्धि-हानिभ्याम्**] उस शरीर की वृद्धि व हानि से [**स्वस्य चय-क्षयौ मन्ये**] स्वयं की वृद्धि व हानि समझी।

व्याख्या :- ज्ञानी अपनी पूर्वकाल की परिणति को लक्ष्य में लेकर विचारता है कि – चैतन्यशक्ति के चक्र से युक्त होने पर भी अनादिकाल से अविद्या (मिथ्यात्व) के संस्कारवश मैं देहादिक में आत्मा की भ्रान्ति करके इन्द्रियों द्वारा ही स्फुरित हो रहा हूँ। इन्द्रियों का विषय पुद्गल पदार्थ है, अतः इन्द्रियज्ञान द्वारा बाह्य विषयों के ग्रहण में ही प्रवृत्ति करता रहा हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए अज्ञान से जब-जब जिस शरीर की प्राप्ति हुई, तब-तब उस देह को ही आत्मा मानकर – मैं मनुष्य, मैं देव, मैं नारकी, मैं तिर्यंच ऐसा माना। शरीर की वृद्धि-हानि को आत्मा की वृद्धि-हानि समझकर प्रवर्तन किया, वह मेरी अनादि की भारी भूल थी। वे पर्यायें क्षणभंगुर और जड़ हैं। मैं अनन्तानन्त चैतन्यशक्ति से युक्त पूर्ण हूँ, नित्य हूँ।

इसी भाव को आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र श्लोक-७ से ९ में निम्नप्रकार से व्यक्त करते हैं :-

''बहिरात्मेन्द्रिय- द्वारै - रात्मज्ञान - पराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति॥
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥

अर्थ :- बहिरात्मा इन्द्रिय द्वारों से बाह्यपदार्थों को ही ग्रहण करने में प्रवृत्त होने से आत्मज्ञान से पराङ्मुख-वंचित होता है; इससे वह अपने शरीर को, मिथ्या अभिप्राय पूर्वक आत्मारूप समझता है।

मूढ़ बहिरात्मा मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यंच, देव के शरीर में स्थित आत्मा को देव और नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। वस्तुतः स्वयं आत्मा वैसा नहीं है अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीरूप नहीं है। वास्तविकरूप से यह आत्मा अनन्तानंत ज्ञान और अनंतानंत शक्ति (वीर्य) रूप है, स्वानुभवगम्य है और अपने स्वरूप में सदा निश्चल रहने वाला है।

ज्ञानी को यह भान होता है कि अनन्तानन्त शक्ति-चक्र का धारक होते हुए भी मैं भ्रमवश प्राप्त पर्याय में तन्मय रहा, मैं अनन्तानन्त धी-शक्ति अर्थात् अनन्तानन्त ज्ञान और शक्ति वाला हूँ।''

अन्तरात्मा आत्मा में अहंबुद्धि करता हुआ पूर्व में नहीं प्राप्त ऐसे लाभ (अतीन्द्रिय आनन्द) से संतोष पाकर अपनी बहिरात्म दशा का स्मरण करके विषाद करता है :-

''मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः।।
– पूज्यपाद समाधितन्त्र-१६

अर्थ :- मैं अनादिकाल से आत्मस्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में पतित हुआ, इससे उन विषयों को प्राप्त करके वास्तव में मुझे स्वयं को 'मैं वही हूँ – आत्मा हूँ' – ऐसा मैंने नहीं पहिचाना।

ज्ञानी विचारता है कि जैसे कोई भोजनादि पदार्थों को स्वयं भोगकर छोड़ देता है और छोड़े हुए उच्छिष्ट पदार्थों को फिर से नहीं भोगना चाहता, इसी तरह अविद्या (अज्ञान) के संस्कारवश अनादिकाल से अनेकबार भोगकर छोड़े हुए पदार्थों को ज्ञानी होने से मैं भोगना नहीं चाहता अर्थात् अब मुझे उन भोगों के प्रति स्पृहा नहीं होती।''

योगी और भी विचार करता है :-

**दारादिवपुरप्येवं तदात्माधिष्ठितं विदन्।
तदात्मत्वेन तत्सौख्य-दुःखे संविभजे पुरा ॥५०॥**

**इसी तरह भार्या का आत्मा जिस तन में स्थित रहता।
उसे आत्मा जान, उन्हीं के सुख-दुःख में भागी होता।।५०।।**

अन्वयार्थ :- इसी प्रकार [**पुरा**] पहले [**दारादि**] स्व-स्त्री आदि के [**तदात्माधिष्ठितं)** उनकी आत्मा द्वारा अधिष्ठित [**वपुरप्येवं**] शरीर को भी [**तदात्मत्वेन विदन्**] उनका आत्मा समझते हुए [**तत्सौख्य-दुःखे**] उनके सुख-दुःख में [**संविभजे**] सहभागी हुआ है अर्थात् उनमें आत्मीयता की कल्पना कर उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ कर भोगा।

व्याख्या :- जिस प्रकार अपनी देह को आत्मा माना उसी प्रकार पुत्र, भार्या आदि के शरीर को उनकी आत्मा समझकर देहदृष्टि से अनादि से उसमें सहभागी हुआ। उनके सुख-दुःखों का भी मैं भागी

रहा। यह भी मेरी भूल थी। अब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने से यथार्थ तत्त्व का भान हुआ है।

अज्ञान अवस्था में स्वदेह में अध्यवसाय का स्वरूप आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र में इसप्रकार कहते हैं :-

''स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

अर्थ :- बहिरात्मा अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, अचेतन– चेतना रहित दूसरे के शरीर को अपने शरीर समान देखकर, अन्य के आत्मारूप से मानता है।''

योगी विचारता है कि – मेरे भी शरीरों में अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से पुत्र-स्त्री आदि के विषय में विभ्रम वर्तता था। परमार्थ से पुत्र-स्त्री, धन-धान्यादिक आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी मैंने उन्हें आत्मीय और उपकारक माना, उनके संयोग में संतोष तथा वियोग में महासंताप करता रहा। इस विभ्रम से अविद्या नाम का संस्कार दृढ़ – मजबूत हुआ।

शरीर में आत्मबुद्धि के कारण ही अपने आत्मा को शरीर के साथ जोड़ा, दोनों को एकरूप माना। अब अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि होने से अपने आत्मा को शरीर से पृथक् – भिन्न अनुभव करता हूँ।

समाधितन्त्र श्लोक-१४ में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं :-

''देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं ! जगत् ॥१४॥

अर्थ :- शरीरों में आत्मबुद्धि के कारण से मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनायें उत्पन्न होती हैं। खेद है कि बहिरात्म-स्वरूप प्राणीगण उन कल्पनाओं के कारण से स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को अपनी समृद्धि मानते हैं। इसप्रकार यह जगत घाता जा रहा है।''

अब कहते हैं कि मोक्षमार्ग का साधक योगी आत्मा व देह को यथारूप अनुभव करता हुआ साम्य-सुधा का आस्वादन करता है :-

भ्रान्ति की निवृत्ति पर आनन्द का अनुभव

सम्प्रत्यात्मतयात्मानं देहं देहतयात्मनः।
परेषां च विदन् साम्यसुधां चर्वन्नविक्रियाम् ॥५१॥

अब अपने या अन्य आत्माओं को आत्मा ही जानूँ।
और देह को देह जानकर निर्विकार सम-रस पीऊँ॥५१॥

अन्वयार्थ :- [**सम्प्रति**] अब (अज्ञान दूर हो जाने पर) [**अहम्** (स्वस्य) **परेषाम् च आत्मानम्**] मैं अपनी व दूसरों की (स्त्री-पुत्रादि की) आत्माओं को [**आत्मतया विदन्**] आत्मा रूप से जानता हुआ, [**देहं च देहतयात्मनः विदन्**] और देह को देह रूप से जानता हुआ [**अविक्रियाम् साम्य-सुधां चर्वन्**] निर्विकार समतारूपी अमृत का पान कर रहा हूँ।

व्याख्या :- मैं देह नहीं हूँ। मैं आत्मा को आत्मारूप और देह को देहरूप अनुभव करता हूँ। पर के आत्मा को उनके देह से भिन्न जानता हूँ। ऐसा करके मैं साम्यभाव को प्राप्त हुआ हूँ। साम्यभाव की प्राप्ति से समता-रस का मुझे आस्वादन हो रहा है। शरीरादिक में आत्मपने के भ्रम से रहित हो जाने से देहादिक में अपने उपकारादि की बुद्धि भी छूट गयी है। मैं अपनी आत्मा में ही स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को आप ही अनुभव कर रहा हूँ। शुद्धात्म-स्वरूप की उपलब्धि होने से मैं जागृत हुआ हूँ। शुद्धात्म-स्वरूप स्वसंवेद्य है, उसी रूप मैं हूँ।

शुद्ध ज्ञानस्वरूप मुझ आत्मा का अनुभव हो जाने पर मेरा न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है, मैं साम्यभाव को प्राप्त हुआ हूँ। कोई बाह्य सामग्री साधक-बाधक भासित नहीं होती।

साम्यभाव-परिणत योगी और भी विचार करता है :-

''एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः॥

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले॥

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा?॥

– इष्टोपदेश श्लोक २७-३०

श्लोकार्थ :- मैं एक ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी और योगीन्द्रों द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजनित जितने भी देह-रागादिक भाव हैं, वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। इस संसार में देहादिक के सम्बध से प्राणियों को दुःख-समूह भोगना पड़ता है, इसलिए इन समस्त सम्बधों को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं उन्हें मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ। मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसी? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ। ये सब दशाएँ पुद्गल में ही पायी जाती हैं। मोह से मैंने सभी पुद्गलों को बार-बार भोगा और छोड़ा। भोग-भोगकर छोड़ दिया। अब जूठन जैसे उन पदार्थों में मेरी क्या इच्छा हो सकती है? अर्थात् अब उन भोगों के प्रति मेरी इच्छा ही नहीं है।''

साम्यभाव की प्राप्ति हेतु योगी अपने को एक शुद्ध, निर्ममत्व, ज्ञानी, स्वसंवेद्य रूप अनुभव करता हुआ द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से प्राप्त हुए देहादि पर्याय को अपने से बिल्कुल भिन्न अनुभव करता है।

आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है इसप्रकार के अभ्यास से वह साम्यभाव को प्राप्त होता है।

आचार्य अमितगति योगसार श्लोक-२८० में कहते हैं कि आत्म-अवबोध ही आत्मशुद्धि का एकमात्र उपाय है :-

''आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्धयति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलाः॥

श्लोकार्थ :- निश्चय से आत्मा आत्मज्ञान से शुद्ध होता है, अन्य से नहीं। जो अन्य पदार्थ से शुद्धि चाहते हैं वे सब विपरीत बुद्धि अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।''

शुद्धात्मभावना-परिणत अभेदरत्नत्रय भेदज्ञान का लक्षण है। उस भेदज्ञान द्वारा जब बहिरात्मा अन्तरात्मपने को प्राप्त होता है, अर्थात् निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप परिणत होता है तो उसे अपना स्वरूप संचेतन कैसा होता है – यह आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-३८ में बताते हैं :-

''अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥

अर्थ :- दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि – निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य-परद्रव्य किंचित्मात्र भी – परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। – यह निश्चय है।''

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-२४१ में साम्यभाव को श्रामण्य का लक्षण निर्धारित करते हैं :-

''समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

अर्थ :- जिसे शत्रु व बंधु वर्ग समान है, सुख और दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे मिट्टी का ढेला और सुवर्ण समान है तथा जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह श्रमण है।''

टीकांश भी दृष्टव्य है –

जो श्रमण पदार्थों में मोह नहीं करता, राग नहीं करता और न द्वेष को प्राप्त होता है तो वह नियम से विविध कर्मों को खपाता है।

साम्य-सुधारस का आस्वादन मोक्षमार्ग के साधक की परिणति का लक्षण है। देह में आत्मबुद्धि मोह-राग-द्वेष का मूल है, दुःख का मूल है। अतः देह में जिसे आत्मबुद्धि नहीं है वह ही साम्यभाव को प्राप्त होता है। जो साम्यभाव को प्राप्त होता है वह ही आनन्द व शान्ति का वेदन करता है।

अब कहते हैं कि इन्द्रिय विषयों की अरुचि योगी की स्वात्म संवित्ति (भेदविज्ञान – वैराग्य) को प्रगट करती हैं :-

योगी की वैराग्य परिणति

तत्त्वविज्ञान-वैराग्य-रुद्ध-चित्तस्य खानि मे ।
न मृतानि न जीवन्ति न सुप्तानि न जागृति ॥५२॥

तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य-नियन्त्रित चित् की खान अहो।
मम इन्द्रियाँ नहीं जीवित, नहिं मृतक सुप्त-जागृत भी नहिं ॥५२॥

अन्वयार्थ :- [**मे** (आत्मा)] मेरी आत्मा [**तत्त्वविज्ञान-वैराग्य- रुद्ध-चित्तस्य खानि**] तत्त्वज्ञान व वैराग्य से निरुद्ध (नियन्त्रित) चित्त की खान है, [**मे इन्द्रियाणि न मृतानि, न जीवन्ति, न सुप्तानि, न जागृति**] मेरी इन्द्रियाँ न मरी हैं, न जीवित हैं, न सुप्त हैं, न जाग्रत हैं।

व्याख्या :- आत्मवस्तु द्रव्यरूप और पर्यायरूप जिस प्रकार

है उस प्रकार, विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित अंगीकार करके जीव के शुद्ध स्वरूप को निरन्तर अखण्ड धाराप्रवाहरूप अनुभवना तत्त्वविज्ञान या भेदविज्ञान है। उसी के साथ रागादि अशुद्ध परिणति का त्याग वैराग्य है। अशुद्ध रागादि परिणामों को मेट कर निरन्तर अखण्ड धाराप्रवाहरूप अपने शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ ज्ञानी इसे ही अपना स्वरूप मानता है। वह जानता है कि 'मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप परमात्मा हूँ, शरीर-मन-वाणीरूप मैं नहीं हूँ, मैं उनसे भिन्न हूँ', ऐसी भावना बारम्बार भाने से उसके ज्ञान के संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कारों से चैतन्यस्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है।

शरीर-मन-वाणी को अपने से भिन्न अनुभव करता हुआ ज्ञानी जब शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप परिणमता है तो उसे इन्द्रिय व्यापार, जीवन-मरण, सोना-जागना आदि शरीर व इन्द्रिय व्यापार के प्रति अति उपेक्षाभाव वर्तता है। वह शरीर में आत्मबुद्धि को छोड़कर तथा बाह्य विषयों से इन्द्रिय प्रवृत्ति को रोककर अंतरंग में आत्मा में प्रवेश करता है। विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्मसंवित्ति (स्वात्मानुभव) का ज्ञान कराती है। स्वात्मसंवित्ति की प्रकर्षता के साथ-साथ विषयों के प्रति अरुचि भी बढ़ती जाती है।

परद्रव्य-प्रवृत्ति के अभाव से और विषय-विरक्तता अर्थात् मोह के अभाव से, मन जिसका मूल है ऐसी चंचलता का विलय होने के कारण ध्याता का चित्त अनन्त सहज-चैतन्यात्मक स्वभाव में दृढ़तया रहता है। उसे परद्रव्य-प्रवृत्ति (शरीर-मन-वाणी की क्रिया) के प्रति अत्यन्त उपेक्षा रहती है। इसलिए वह न सोता हुआ है न जागता हुआ है, उसकी इन्द्रियाँ न मरी हैं न जीवित हैं।

इष्टोपदेश में आचार्य पूज्यपाद योगी की इन्द्रिय विषयों सम्बन्धी अरुचि को प्रगट करते हैं :-

''यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

अर्थ :- जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व (निज शुद्धात्मा) अनुभव में आता है वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचते नहीं, रुचिकर नहीं लगते।

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

अर्थ :- जैसे-जैसे सुलभ (सहज प्राप्त) इन्द्रिय विषय भी नहीं रुचते वैसे-वैसे स्वात्म संवेदन में उत्तम निजात्म-तत्त्व आता जाता है।''

ज्ञानी को सहज प्राप्त रम्य इन्द्रिय-विषय भी भोग-बुद्धि को उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि महासुख की प्राप्ति होने पर अन्य सुख के कारणों के प्रति लोक में भी अनादर देखा जाता है।

योगी का शरीरादि परद्रव्य के प्रति मध्यस्थपना आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१६० में प्रगट करते हैं :-

''णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥

अर्थ :- मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ, उनका कारण नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ, और कर्त्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।''

देह, मन और वाणी पुद्गल द्रव्यात्मक हैं। मैं पुद्गल नहीं हूँ और वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किये गये हैं। इसलिए मैं देह नहीं हूँ और उस देह का कर्त्ता नहीं हूँ।

योगी को पद विषयक आसक्ति कितनी घट जाती है – इस वैराग्य परिणति को अब दृष्टान्त द्वारा बताते हैं :-

विशद-ज्ञान-सन्ताने संस्कारोद्बोध-रोधिनि ।
जाग्रत्य जाग्रत्स्मृत्यादेः किं स्मरत्कल्पनापि मे ॥५३॥

संस्कारोत्पत्ति अवरोधक विशद ज्ञान सन्तान जगें ।
मम कलपना अजाग्रत स्मृति आदि का क्यों स्मरण करें ॥५३॥

अन्वयार्थ :- [**संस्कार-उद्बोध-रोधिनि**] (पूर्व के अज्ञान-युक्त) संस्कारों के उद्बोध को रोकने वाले (**विशद-ज्ञान-सन्ताने जाग्रते सति**) विशद (निर्मल) ज्ञान की सन्तानों के जाग्रत रहने पर [**मे कल्पना अपि**] मेरी कल्पना भी [**अजाग्रत् स्मृत्यादेः किम् स्मरत्**] अजाग्रत स्मृति आदि का क्या स्मरण करेगी ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

व्याख्या :- मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप परमात्मा हूँ, शरीर-मन-वाणी रूप मैं नहीं हूँ, मैं उनसे भिन्न हूँ – ऐसी भावना बारम्बार भाने से, मेरे ज्ञान का संस्कार दृढ़ होता हुआ अविद्या के अभ्यास से पड़े अज्ञान के संस्कारों को, विषयों और इन्द्रियों के अधीन प्रवृत्ति को रोकने वाला है। ज्ञान का संस्कार अविद्या के अभ्यास से पड़े अज्ञान-संस्कार को जाग्रत नहीं होने देता।

ज्ञान का संस्कार जैसे-जैसे दृढ़ होता जाता है, स्वरूप में स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे अज्ञान-संस्कार जनित राग-द्वेषादि भाव छूटते हैं, वीतरागता बढ़ती है। साधक जीव को ज्ञान-संस्कार का बल इतना है कि बाह्य वस्तु के प्रति स्मरणादि विषयक कल्पना भी कभी जाग उठे तो कल्पना स्थित स्मृति क्या किसी वस्तु का स्मरण करेगी? नहीं करेगी। अन्तरंग में भेदविज्ञान अविच्छिन्नधारा – अखण्ड प्रवाहरूप ऐसा चल रहा है कि ज्ञान परभावों को छोड़कर अपने स्वरूप में ही ठहरता है।

आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र श्लोक-३७ में ज्ञान के संस्कार के बल को इसप्रकार बतलाते हैं :-

''अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥

अर्थ :- अविद्या (शरीरादि को शुचि, स्थिर और आत्मीयरूप मानना) के पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप संस्कारों द्वारा मन स्वाधीन न रहकर विक्षिप्त हो जाता है, और वही मन स्व-पर के भेदविज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान संस्कारों द्वारा स्वयं ही आत्म-स्वरूप में स्थिर हो जाता है।''

आत्म स्वरूप में जब साधक का मन स्थिर हो जाता है तो उसका मन रागादिरूप परिणमित नहीं होता। किंचित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है और ज्ञानस्वभाव की ही भावना द्वारा ज्ञान की अधिकतारूप परिणमता है। फलतः स्मरणादि विषयक कोई मान-अपमान की कल्पनायें उत्पन्न नहीं होती। मन में विक्षेप नहीं होता। मोहनीय कर्म के उदय से राग-द्वेष उत्पन्न हो भी जावे तो उसी समय वह साधक अपने आत्म स्वरूप की भावना करता है जिससे वे रागद्वेषादिक क्षणभर में शांत हो जाते हैं, क्षणमात्र में उपशमते हैं।

आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश श्लोक-३९ से ४२ में योगी की वैराग्य परिणति को इसप्रकार प्रगट करते हैं :-

''निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वाऽन्यत्राऽनुतप्यते॥

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽदरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्॥

ब्रूवन्नपि हि न ब्रुते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नाऽवैति योगी योगपरायणः॥

अर्थ :- योगी समस्त जगत को इन्द्रजाल के समान समझता है (देखता है) आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए स्पृहा (अभिलाषा) करता है और अन्यत्र (उपयोग) लग जाय तो वह पश्चाताप करता है। निर्जनता के लिए जिसको आदर उत्पन्न हुआ है – ऐसा योगी एकान्तवास ही चाहता है और निज कार्यवश कुछ बोल गया हो तो वह जल्दी भूल जाता है। जिसने आत्मतत्त्व के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है वह बोलता होने पर भी नहीं बोलता, चलता होने पर भी नहीं चलता और देखता होने पर भी नहीं देखता। योगपरायण योगी यह क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादि भेद रूप विकल्प न करता हुआ अपने शरीर को भी नहीं जानता।''

पूर्व संस्कारवश ज्ञानी के मन-वचन-काय की प्रवृत्ति स्वात्मा को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में प्रवृत्त हो भी जावे तो वह वहाँ से हटकर स्वयं ही पश्चाताप करता है कि अरे ! मुझसे अनात्मीय अनुष्ठान कैसे हुआ? आत्मनिन्दा-गर्हादि करके अपनी शुद्धि करता है। स्वभाव से आत्मा के हितरूप अनुष्ठान में रत रहने के लिए एकान्तवास ही चाहता है। निज (आहारादि निमित) कार्यवश लौकिकजनों से सम्पर्क होने पर कुछ बोल गया हो तो वह जल्दी ही भूल जाता है। श्रावकों से कदाचित् यह कहने में आ जावे कि – अहो ! 'यह करो' इत्यादि कहकर उसी क्षण भूल जाता है। यदि श्रावकादि पूछते हैं कि भगवन् ! क्या आदेश है? तो भी वह कुछ उत्तर नहीं देता। जब वह योगी आत्मचिंतन में लीन हो जाता है तब उस वचनालाप सम्बन्धी सब विस्मृत हो जाता है। इसप्रकार जिसने आत्मतत्त्व के विषय में स्थिरता प्राप्त करली है ऐसा योगी संस्कारवश उपदेश के अनुरोध से बोलता होने पर भी (धर्मादिक का व्याख्यान करता होने पर भी) वास्तव में बोलता ही नहीं है, क्योंकि उसे भाषण करने के प्रति अभिमुखपने का अभाव है।

समाधितन्त्र श्लोक-५० में भी आचार्य पूज्यपाद कहते हैं :-

''आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यारर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।।

अर्थ :- अन्तरात्मा को चाहिए कि वह आत्मज्ञान से भिन्न दूसरे कार्य को अधिक समय तक अपनी बुद्धि में धारण नहीं करे। यदि स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश वचन व काय से कुछ करना भी पड़े तो उसे अनासक्त होकर करे।''

योगी का उपयोग आत्मज्ञान से भिन्न किसी व्यावहारिक कार्य में लम्बे समय तक नहीं रुकता। स्व-पर के उपकारार्थ अस्थिरता के कारण वचन-काय द्वारा आहार-उपदेशादि का विकल्प आवे तो उसमें ज्ञानी को अतन्मयभाव वर्तता है। इसलिए ज्ञानी की परसन्मुख-वृत्ति अति उदासीनतापूर्वक होती है।

योगी की भावना

निश्चित्यानुभवन् हेयं स्वानुभूत्यै बहिस्त्यजन्।
आदेयं चाददानः स्यां भोक्तृ रत्नत्रयात्मकः ।।५४।।

स्वानुभूति वृद्धि हेतु निश्चल-स्वरूप अनुभव करता।
हेय-बाह्य तज रत्नत्रयमय निज स्वरूप भोक्ता होता।।५४।।

अन्वयार्थ :- [**स्वानुभूत्यै**] स्वानुभूति की उत्तरोत्तर विशेष प्राप्ति के लिए [(स्वरूपं) **निश्चित्य अनुभवन्**] स्वरूप का निश्चय करके निश्चल रूप से अनुभव करता हुआ, [**हेयम् बहिः त्यजन्**] हेयरूप बाह्य पदार्थों को त्यागता हुआ और [**आदयेम्_च आददानः**] उपादेय रूप जो अपना स्वरूप है उसे ग्रहण करता हुआ [**रत्नत्रयात्मकः भोक्तृ स्याम्**] रत्नत्रयात्मक स्वभाव का भोक्ता बनूँ/होऊँ।

व्याख्या :- ज्ञानी सम्यग्दृष्टि निरन्तर स्वानुभव वृद्धि की भावना

भाता है। वह निज चिदानन्द स्वरूप को उपादेय और स्वरूप से बाह्य कर्मोदयजनित भावों को हेयरूप से ग्रहण करता हुआ निरन्तर राग-द्वेषादिरूप बाह्य परिणति को त्यागने की व शुद्ध स्वरूप में स्थिरता की भावना करता है। ऐसी भावना के बल से रत्नत्रयात्मक निज स्वरूप का भोक्ता बनता है। इसप्रकार उपादेय के ग्रहण व हेयभावों के त्याग द्वारा वह उत्तरोत्तर अपनी आत्मशक्तियों को प्रकाशित करता जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-१३६ में सम्यग्दृष्टि की इस भावना को ज्ञान व वैराग्य शक्ति कहते हैं :-

''समयग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वयं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान व वैराग्य ऐसी दो शक्तियाँ अवश्य होती हैं। ज्ञान शक्ति से सम्यग्दृष्टि सहज ही शुद्ध स्वरूप में अनुभवरूप होता है। वैराग्य शक्ति से पुद्गल द्रव्य की उपाधि से जितनी रागादि अशुद्ध परिणति उससे सर्वप्रकार रहित होता जाता है। शुद्ध चैतन्यमात्र मेरा स्वरूप है ऐसा वह अनुभवरूप जानता है। निरन्तर अभ्यास द्वारा वह अपना शुद्धपना बढ़ाता है, जिससे परद्रव्य का सर्वथा त्याग और अपने शुद्धस्वरूप का लाभ हो – निज शुद्ध वस्तु की प्राप्ति हो।''

आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र श्लोक-७८ में सम्यग्दृष्टि जीव की प्रवृत्ति को इसप्रकार बताते हैं :-

''व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥

अर्थ :- जो कोई प्रवृत्ति-निवृत्यादिरूप लोक-व्यवहार में सोता है – अनासक्त व अप्रयत्नशील रहता है वह आत्मा के विषय में जागता है – आत्मानुभव में तत्पर रहता है और जो इस लोक-व्यवहार में जागता है उसकी साधना में तत्पर रहता है वह आत्मा के विषय में सोता है – आत्मानुभव का कोई प्रयत्न नहीं करता।''

आत्मानुभव की भावना वाला जो जीव प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार में अतत्पर होता है, वह ही आत्मानुभव को बढ़ाता जाता है। आत्म स्वरूप में स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है। उसकी वह प्रवृत्ति विकल्पारूढ़ नहीं होती और उससे धर्म होता है। मोह-राग-द्वेषरूप परिणति विनशती है, शुद्ध ज्ञान चेतना प्रगट होती है और जीव अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमता है – इतना कार्य एक ही साथ होता है।

इष्टोपदेश श्लोक-४५ में आचार्य पूज्यपाद योगी की बुद्धिपूर्वक प्रवृति कैसी होती है, उसका कथन करते हैं :-

''परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥

अर्थ :- पर पर ही है उससे दुःख होता है और आत्मा आत्मा ही है, उससे सुख होता है, इसलिए ही महात्माओं ने उसके (सुख के) लिए ही उद्यम किया है।''

जिस प्रकार किसी को रोग, शोक, दारिद्र्य बिना ही वांछा के होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के जो कोई क्रिया होती है सो बिना वांछा के होती है। वह अनिच्छुक होकर बलात् आ पड़े कर्म के उदय में पंचेन्द्रिय विषय-भोगरूप क्रिया करता है, परन्तु कर्म के उदय के प्रति उदासीन है। अतः ऐसी क्रिया होते हुए भी न होने के समान है। वह तो अपने को ज्ञायक-स्वरूपमात्र अनुभवता है।

जो योगी (ध्यानी) व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप के

कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्मकार्य में सोता है। योगी आगम के पूर्वोक्त कथन को जानकर व्यवहार छोड़ आत्मकार्य करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड गाथा-३२ में कहते हैं :-

''इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं॥

अर्थ :- इसप्रकार पूर्वोक्त कथन को जानकर जो योगी ध्यानी मुनि है वह सर्व ही व्यवहार को सर्वप्रकार से छोड़कर परमात्मा का ध्यान करता है – जैसे जिनवरेन्द्रों-तीर्थंकरों ने कहा है, वैसे ही परमात्मा का ध्यान करता है।''

साधक एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद (चैतन्यमात्र ज्ञान भाव का स्वाद) को लेता हुआ द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (अर्थात् वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ) आत्मानुभव या आत्मस्वाद के प्रभाव के अधीन होने से निज वस्तु-वृत्ति को जानता – आस्वाद लेता हुआ और ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ, सामान्य मात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ, सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है – एकरूप में प्राप्त करता है। जब ज्ञान सामान्य का स्वाद लिया जाता है तब ज्ञान के समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं। एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

अब प्रश्न है कि योगी (ज्ञानी) अन्तरात्मपने से परमात्मपने की ओर बढ़ने के लिए किसरूप प्रयत्न करता है? इसके उत्तर में कहते हैं :-

योगी की श्रेष्ठ निष्ठा

हित्वोपयोगमशुभं श्रुताभ्यासाच्छुभं श्रितः।
शुद्धमेवाधितिष्ठेयं श्रेष्ठा निष्ठा हि सैव मे॥५५॥

अशुभ भाव तज श्रुताभ्यास से शुभ का अवलबन लेकर।
अधिक-अधिक शुद्धोपयोग में लीन रहूँ यह ही निष्ठा ॥५५॥

अन्वयार्थ - [**अशुभम् उपयोगम् हित्वा**] अशुभ उपयोग को छोड़कर [**श्रुत-अभ्यासात् शुभम् श्रितः**] श्रुत के अभ्यास से शुभोपयोग का आश्रय लेकर [**शुद्धम् एव अधितिष्ठेयम्**] शुद्धोपयोग में ही अधिकाधिक स्थित रहूँ, [**सा एव मे श्रेष्ठा निष्ठा हि**] यही मेरी श्रेष्ठ निष्ठा (श्रद्धा/धारणा) है।

व्याख्या :- शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के लिए यहाँ श्रेष्ठ निष्ठा का उल्लेख है। साधक की भावना अशुभ-उपयोग का त्याग करके शास्त्राभ्यास के द्वारा शुभोपयोग का आश्रय लेते हुए शुद्धोपयोग में ही अधिक स्थित रहने की रहती है। इसप्रकार शुद्धोपयोग का क्रम कहा। अशुभ के त्याग पूर्वक शुभ के आश्रय के लिए शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) साधन कहा। इस शुभोपयोगरूप भूमिका से शुद्धोपयोग की प्राप्ति व स्थिरता होती है। साधक जीव की इस क्रम में निष्ठा है – प्रतीति है। शुद्धोपयोग की प्राप्ति व उसमें स्थिरता का यही क्रम है ऐसी उसकी श्रेष्ठ निष्ठा है।

ज्ञानी जीव के हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ कार्य से निवृत्ति और अहिंसा, भक्ति, व्रत, नियम आदि शुभ कार्य में प्रवृत्तिरूप व्यवहार होता है; परन्तु अशुभ कार्यों से निवृत्ति व शुभ कार्यों में प्रवृत्ति मात्र से आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञानी शुभभावरूप प्रवृत्ति से भी निवृत्त हो आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानता है। जब ज्ञानी स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता तब उसको व्रत, समिति, गुप्ति, भक्ति, स्तुति, वन्दना आदि रूप शुभ-भाव होते हैं पर वह उनको भला नहीं मानता, उसका उनको स्वामित्व अथवा कर्त्ताबुद्धि नहीं होती। वह शुभराग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है। सम्यग्दृष्टि साधक की अशुभ

से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति का नाम व्यवहार चारित्र है।

व्यवहार चारित्र का स्वरूप द्रव्यसंग्रह गाथा-४५ में आचार्यश्री नेमिचन्द्रजी ने निम्नप्रकार से बताया है :-

''असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं॥

अर्थ :- अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति उसे (व्यवहार) चारित्र जानो। व्रत-समिति-गुप्ति रूप – ऐसा वह (चारित्र) व्यवहारनय से जिनेन्द्रदेव ने कहा है।''

शुभोपयोग के तीन भेद हैं – (१) क्रियारूप (२) भक्तिरूप (३) गुण-गुणी के भेद विचाररूप, सम्यक्त्व सहित ये तीनों सातिशय, सम्यक्त्व बिना ये तीनों निरतिशय हैं। (अनुभवप्रकाश, पं. दीपचन्दजी)

सातिशय शुभोपयोग परम्परा मोक्ष करता ही करता है, निरतिशय (सम्यक्त्व रहित) शुभोपयोग संसारसुख – देवपद अथवा राजपद देता है। सातिशय शुभोपयोग इसप्रकार साधक है, परम्परा मोक्ष साध्य है।

आत्मानुशासन श्लोक-१२३ में गुणभद्रसूरि भी कहते हैं:-

''विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबंधनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदाय सः॥

अर्थ :- जैसे सूर्य की प्रभात सम्बन्धी रक्तता है वह उसके उदय के लिए ही होती है, उसी प्रकार ऐसा जीव जिसने अज्ञान अंधकार दूर किया है उसके तप-शास्त्रादिक सम्बन्धी रागभाव है वह कल्याण के उदय के लिए ही होता है।''

यद्यपि अशुभ-शुभ दोनों रागभाव हेय हैं, परन्तु नीचे की दशा में शुभ राग तो कथंचित् आगामी शुद्धता का कारण भी है, परन्तु अशुभ राग तो आगामी कुगति का कारण है, इसलिए सर्वथा हेय

है। इसलिए साधक शुभ उपयोग में रहता हुआ शुद्धोपयोग में अधिकाधिक रहने को पुरुषार्थवन्त रहता है।

शुभोपयोग के आश्रय में भी श्रुताभ्यास मुख्य है। जिनके उत्कृष्ट वैराग्य पाया जाता है, ऐसे जो जीव शरीर को पालते हुए चिरकाल पर्यंत तप करते हैं यह ज्ञान का ही प्रभुत्व जानो। मुनि शरीर को हेय जानकर भी शरीर को साथ रखते हैं – पालते हैं, यह ज्ञान की ही महिमा है।

साधक अवस्था में योगी श्रुताभ्यास द्वारा शुभोपयोग का आश्रय लेता है। श्रुताभ्यास अथवा आगम की पर्युपासना बिना ज्ञप्ति-परिवर्तन नहीं टलता और ज्ञप्ति-परिवर्तन रुके बिना शुद्धोपयोग नहीं होता। इसीलिए आचार्यों ने स्वाध्याय को परमतप कहा है। ध्यान की सिद्धि के लिए श्रुताभ्यास (स्वाध्याय) व्यवहार साधन है।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड़ गाथा-३३ में योगी को ध्यान-अध्ययन करने का उपदेश देते हैं :-

''पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह॥

अर्थ :- पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्तियों से युक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से संयुक्त होकर हे मुनिजनो ! तुम ध्यान और शास्त्र के अभ्यास को सदा करो।''

आगम के अभ्यास बिना पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं होता। पदार्थों के स्वरूप के निश्चय बिना (१) अश्रद्धाजनित तरलता (२) परकर्त्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और (३) परभोक्तृत्वाभिलाषा जनित अस्थिरता का अभाव नहीं होता। अस्थिरता के कारण उपयोग शुद्धात्मा में एकाग्र नहीं होता और एकाग्रता के बिना एक आत्मा

में श्रद्धान-ज्ञान-वर्तन रूप शुद्धात्म प्रवृत्ति नहीं होती। शुद्धात्म प्रवृत्ति बिना मुनिपना नहीं होता। इसलिए मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्म (परमब्रह्मरूप वाच्य का वाचक द्रव्यश्रुत) रूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।

उपयोग के भेद, अशुभ-शुभ और शुद्ध

उपयोगोऽशुभो राग-द्वेष-मोहैः क्रियात्मनः ।
शुभः केवलिधर्मानुरागाच्छुद्धः स्वचिल्लयात् ॥५६॥

राग-द्वेष अरु मोह युक्त परिणति अशुभोपयोग जानो।
जिन-प्रणीत धर्मानुराग शुभ आत्म लीनता शुद्ध अहो॥५६॥

अन्वयार्थ :- [**आत्मनः राग-द्वेष-मोहैः** (युक्ता) **क्रिया अशुभोपयोगः**] आत्मा की राग-द्वेष व मोह से युक्त क्रिया/परिणति अशुभोपयोग है। [**केवलि-धर्मानुरागात् शुभः**] केवली प्रणीत धर्म के प्रति अनुराग से शुभोपयोग है। [**स्व-चित्- लयात् शुद्धः**] अपने चैतन्य- स्वरूप में लीनता रूप आत्म-परिणति शुद्धोपयोग है।

व्याख्या :- तीव्र क्रोधादिक, अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषया-सक्ति और देव-गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना आदि प्रवृत्ति अशुभ परिणामों के निमित्त से होती है। अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि प्रवृत्ति शुभ परिणामों के निमित्त से होती है। जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है और लोहे की भी बाँधती है, इसी प्रकार शुभ तथा अशुभ उपयोग बंध मार्ग में हैं। ये समस्त अशुद्धभाव बन्धमार्ग के आश्रित हैं और बंध के कारण हैं। चैतन्य स्वरूप में लीनतारूप आत्म-परिणति शुद्ध-उपयोग है – जीव के परिणाममय ही है, वह ही एक मोक्षमार्ग है।

आत्मा के चेतना गुण के व्यापार को उपयोग कहते हैं। उपयोग

तीन प्रकार होता है। जो उपयोग राग-द्वेष सहित प्रवर्तता है उसे अशुद्ध उपयोग कहते हैं। अशुद्ध उपयोग के दो भेद हैं – अशुभोपयोग व शुभोपयोग। जिससे आत्मा का भला हो उसका नाम गुण है और जिससे आत्मा का बुरा हो उसका नाम दोष है। तीव्र मोह का उदय होने पर जीव को गुणों में द्वेष और दोषों में अनुराग होता है। इस अभिप्राय से जिसमें गुण हो या गुण का कारण हो उसके प्रति तो द्वेष होता है और जिसमें दोष हो या दोष का कारण हो उसके प्रति अनुराग होता है; ऐसे जीव के अशुभोपयोग पाया जाता है। यह कृष्ण-नील-कापोत लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति, देव-गुरु के प्रति अविनय भाव आदि रूप होता है। अति प्रमाद से भरे हुए आचरणरूप परिणति, कलुषतारूप परिणति, विषय-लोलुपतारूप परिणति, परपरिताप (पर को दुःख देना) रूप परिणति और पर के अपवादरूप परिणति, ये पांच प्रकार के भावरूप वर्तता उपयोग अशुभोगयोग है।

जब जीव के मोहनीय कर्म के मन्द उदय से मोह के मन्दरूप भाव प्रवर्तते हैं तो उसे गुणों में अनुराग और दोषों के प्रति द्वेष होता है। इस अभिप्राय से जिनमें गुण हों या जो गुण के कारण हों उनके प्रति अनुराग होता है, और जिनमें दोष हों या जो दोषों के कारण हों उनके प्रति द्वेष होता है, उस जीव के शुभोपयोग होता है। अरहन्तादि में भक्ति, जीवों के प्रति अनुकम्पा और पीत-पद्म-शुक्ल लेश्यारूप भाव शुभोपयोग है।

राग-द्वेष-मोह रहित होकर उपयोग का निज-शुद्धात्मा में एकाग्र होना शुद्धोपयोग है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१५९ में योगी की शुद्धात्म भावना को बताते हैं :-

''असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥

अर्थ :- अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा शुभोपयोग-युक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ। उपयोगरूप निज-स्वभाव से आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ।''

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-१४७ में कहते हैं –

''**तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।**
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण॥

अर्थ :- इसलिए इन दोनों कुशीलों (शुभ व अशुभ भाव) के साथ राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है। अथवा तो अपने द्वारा ही अपना घात होता है।''

शुभ-अशुभभाव कुशील हैं, क्योंकि कर्मबंध के कारण हैं इसलिए शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है।

जब तक यथाख्यात चारित्र नहीं होता तब तक सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं – शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं होता है। विषय-कषाय के विकल्प-रूप अशुभोपयोग और व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूप के विचाररूप शुभोपयोग भी कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणति-रूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। इसलिए मोक्षमार्गी जीव अशुभ कर्म ही नहीं, किन्तु शुभकर्म को भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने के लिए निरन्तर उद्यमी रहते हैं। जब तक सम्पूर्ण स्वरूप स्थिरता नहीं हो जाती तब तक उनके शुद्ध स्वरूप के विचार आदि शुभ परिणाम हेय-बुद्धि से प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर तथा

छोड़कर अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि उन्हें कभी भी नहीं होती।

पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ की गाथा-१६६ में श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य कर्मक्षय का सिद्धान्त इसप्रकार प्रतिपादित करते हैं :-

अरहंतसिद्धचेदिय पवयणगणणाण भत्ति संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थ :- अरहन्त, सिद्ध, चैत्य (अर्हंतादि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।

जिसके राग-रेणु की कणिका भी हृदय में जीवित है, वह भले ही समस्त सिद्धान्तसागर पारंगत हो तथापि निरुपराग – शुद्ध स्वरूप-रूप स्वसमय को वास्तव में नहीं चेतता (अनुभव नहीं करता)। जिस प्रकार धुनकी से चिपकी हुई थोड़ी भी रुई धुनने के कार्य में विघ्न करती है, उसी प्रकार थोड़ा-सा भी राग स्वसमय की उपलब्धिरूप कार्य में विघ्न करता है। अतः जीव को स्वसमय (निज शुद्धात्मा) की प्रसिद्धि के हेतु से अर्हंतादिक विषयक राग-रेणु भी क्रमशः दूर करने योग्य है।

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१६८ व १६९ में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :-

''धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥
तम्हा णिव्वुदि कामो णिस्संगो णिम्ममो य हवयि पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि॥

अर्थ :- जो (राग के सद्भाव के कारण) अपने को चित्त-भ्रमण रहिततया नहीं रख सकता, उसे शुभाशुभ कर्म का निरोध नहीं

है। इसलिए मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति (शुद्धात्मद्रव्य में स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति) करता है, इसलिये वह निर्वाण को प्राप्त करता है।''

अर्हंतादि की भक्ति भी रागरहित नहीं होती। राग से चित्त का भ्रमण (विकल्पों का विस्तार, मन भटकना, मन की चंचलता) होता है, इसलिए शुभ तथा अशुभ कर्म की परम्परा का मूल कारण राग ही है। इसलिए मोक्षार्थी जीव को कर्मबन्ध का मूल ऐसा जो चित्त का भ्रमण और चित्त-भ्रमण के मूलभूत रागादि परिणति का एकान्त से निःशेष नाश करने योग्य है। राग परिणति का निःशेष नाश किया जाने से निःसंगता (बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहितता) और निर्ममता (ममकार-अहंकारादिरूप विकल्प समूह से रहित निर्मोह परिणति) जिसे प्रसिद्ध हुए हैं ऐसा वह जीव शुद्धात्म द्रव्य में विश्रांतिरूप पारमार्थिक सिद्ध-भक्ति धारण करता हुआ स्वसमय प्रवृत्ति की प्रसिद्धि वाला होता है। उस कारण से वह जीव कर्मबन्ध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

अब कहते हैं कि योगी शुद्धात्मभावना पूर्वक शुद्धोपयोग हेतु निरन्तर पुरुषार्थवन्त रहता है :-

योग का स्वरूप

स एवाहं स एवाहमिति भावयतो मुहुः।
योगः स्यात्कोपि निःशब्दः शुद्धस्वात्मनि यो लयः ॥५७॥

वह ही मैं हूँ वह ही मैं हूँ – यही भावना भाता हूँ।
निज स्वरूप मैं हुई लीनता इस निशब्द को योग कहो॥५७॥

अन्वयार्थ :- [**'सः एव अहम् सः एव अहम्'**] वह शुद्धरूप ही मैं हूँ, वह शुद्धरूप ही मैं हूँ [**इति मुहुः भावयतः**] इस प्रकार

भावना भाते हुए आत्मा की [**शुद्ध-स्वात्मनि यः लयः स्यात्**] अपने शुद्ध-स्वरूप में जो लीनता होती है [(सः) **कोऽपि निःशब्दः योगः**] वह कोई अनिर्वचनीय योग है।

व्याख्या :- 'जो शुद्धरूप परमात्मा है वह ही मैं हूँ' – ऐसी दृढ़ता-पूर्वक बारम्बार भावना करने से साधक शुद्धात्मा में लीन होता है। शुद्धात्मा में ऐसी लीनता बनती है वह, ऐसा योग अथवा समाधिरूप ध्यान है जो वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वचन में वैसी शक्ति नहीं है। शुद्धात्मा के अनुभव में राग-द्वेषादि की कल्लोलें नहीं उठतीं। जिसके चित्त में राग-द्वेषादि की कल्लोलें उठ रही हों, वह मनुष्य आत्म-तत्त्व का दर्शन नहीं कर सकता।

सहज आत्मसम्पदा का अनुभव समता का अनुगामी अर्थात् साम्यभाव के पीछे-पीछे आने वाला है। किसी ऐसी अवर्णनीय समाधि द्वारा उत्तम आत्माओं के हृदय में समता की अनुगामिनी सहज आत्म सम्पदा स्फुरित होती है।

समता का कुल-मन्दिर अनाकुल निजतत्त्व है, जो उसे भजता है उसमें उपयोग को एकाग्र करता है, उसे समता अथवा साम्यभाव की प्राप्ति होती है। समता रहित यति को तपश्चरण से फल नहीं है।

पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार कलश २२८, २२९ में योगभक्ति का स्वरूप कहते हैं :-

''आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
स योगभक्ति युक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः॥

अर्थ :- जो यह आत्मा आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है, वह मुनीश्वर निश्चय से योगभक्ति वाला है।

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम्॥

अर्थ :- भेद का अभाव होने पर यह अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) योग-भक्ति होती है, उसके द्वारा योगियों को आत्मलब्धिरूप ऐसी वह (प्रसिद्ध) मुक्ति होती है।''

जो यति अति अपूर्व निजात्माजनित भावना से उत्पन्न होने वाले सुख के लिए यत्न करते हैं, वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं दूसरे नहीं।

नियमसार कलश-१५६-१५८ में कहा है कि ''जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होने वाले कोलाहल से विमुक्त है, जो नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों को गोचर है, जो सदाशिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है, ऐसा यह अनघ (शुद्ध) चैतन्यमय सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त है। सर्व संग से निर्मुक्त, निर्मोहरूप, अनघ और परभाव से मुक्त ऐसे इस परमात्म तत्त्व को योगी निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होने वाले अनंगसुख के लिए नित्य सम्यक्रूप से भाते हैं और प्रणाम करते हैं।''

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में समागत श्लोक-५ में कहते हैं :-

''आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निष्प्रकम्पप्रकाशां,
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥

अर्थ :- इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के प्रसार से सरस ऐसे ज्ञानतत्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूप से विलसित रत्नदीपक की निष्कंप-प्रकाशमय शोभा को पाता है। अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कंपतया अत्यन्त प्रकाशित होता रहता है।''

शुद्धात्मा में लीन योगी सहजतत्त्व (शुद्धात्मा) की आराधना किस विधि से करता है – यह विधि आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार गाथा-१५७ में इसप्रकार बताते हैं :-

''लद्धूण णिहिं एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं॥

अर्थ :- जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को पाकर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी परजनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगता है।''

सर्व पुराण-पुरुष इसप्रकार परमावश्यकरूप आत्म-आराधना के प्रसाद से केवली – सकलप्रत्यक्ष ज्ञानधारी हुए हैं।

प्रवचनसार गाथा-९२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र शुद्धोपयोग की महिमा करते हुए कहते हैं :- **''स्वस्ति च परमवीतराग चारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः**

अर्थ :- जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ऐसा परम वीतरागचारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग जयवंत वर्तो।''

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड़ गाथा-८३ में निश्चय नय से ध्यान व उसका फल बताते हैं :-

''णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं॥

अर्थ :- निश्चय नय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा-आत्मा ही में अपने ही लिए भली प्रकार रत हो जावे वह योगी, ध्यानी, मुनि सम्यक्चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।''

देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहने वाले तथा

प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण वाले व्यवहार से दूर रहने वाले ध्यानी योगी पुरुष को आत्मध्यान करने से कोई वचनों के अगोचर परम, जो दूसरों को नहीं हो सकता, ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।

''जैसे अग्नि ईंधन को जला डालती है, उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानन्द, हमेशा से चले आये प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म-सन्तति को जला डालता है, और आनन्द सहित योगी बाहरी दुःखों के परिषह-उपसर्ग सम्बन्धी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है, जिससे खेद को (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता। ऐसे योगी की जो शुद्ध स्वात्मा में लीनता बनती है, वह अनिर्वचनीय योग है।''

– इष्टोपदेश श्लोक ४७-४८

आत्मा में उपयोग की एकाग्रतारूप ध्यान से कर्मों की प्रचुर निर्जरा होती है और ध्यानावस्था में परमानन्द का वचन-अगोचर स्वाद आता है। इस स्वाद में बाह्य संयोगों का कुछ भी वेदन नहीं होता।

शुद्धात्म स्वरूप में लीन योगी की निर्भयता

शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप एव लीनः कुतोऽपि न।
बिभेति परमानन्द एव विन्दति भावकम् ॥५८॥

शुद्ध बुद्ध चिद्रूप परम आनन्द में लीन सन्त योगी।
नहिं भयभीत किसी से होते भावक के अनुभव भोगी॥५८॥

अन्वयार्थ :- [**शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूपे परमानन्दे एव लीनः** (योगी)] शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप परमानन्द में ही लीन योगी [**कुतः अपि न बिभेति**] किसी से भी भयभीत नहीं होता, अपितु [**भावकम् एव विन्दति**] भावक का – परमानन्द स्वभाव का ही अनुभव करता है।

व्याख्या :- शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्दमय निजस्वरूप में लीन योगी किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता। ऐसा परमानन्द-मग्न योगी-ध्यानी

बाह्य संयोगों – परिषह, उपसर्ग तथा क्लेशादिकों में अचेतन रहता है, उसे संयोग व संयोगी भावों का अनुभव ही नहीं होता इसलिए वह खेद अथवा संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है। अखेद – अक्लेश रहता है।

निज शुद्ध स्वरूप में लीन योगी की निर्भयता आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-१५४ में इसप्रकार निरूपित करते हैं :-

''सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥

अर्थ :- जिसके भय से चलायमान होते हुए – खलबलाते हुए तीन लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं, – ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़कर, स्वयं अपने को (आत्मा को) जिसका ज्ञानरूप शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए, ज्ञान से च्युत नहीं होते। – ऐसा परम साहस करने के लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।''

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं इसलिए निर्भय होते हैं। वे इह-लोक, पर-लोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण व आकस्मिक भय से रहित होते हैं।

भय उन्हीं को होता है जो पर में आत्मत्व का अनुभव करते हैं, इसके बिना भय कैसे हो सकता है ? वास्तव में जो पर्यायबुद्धि जीव हैं उन्हीं को भय होता है। जिनका चित्त आत्मतत्त्व में लगा हुआ है उन्हें भय नहीं होता। इसलिए भय के सद्भाव से मिथ्याभाव का अनुमान किया जाता है और वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य हेतु है, यह जिनागम से जाना जाता है। यह बात सिद्ध है कि जो पराधीन है वह भय सहित है और आत्मानुभव से च्युत है; क्योंकि

स्वस्थ पुरुष स्वाधिकारी होता है, इसलिए उसके भय का पाया जाना असम्भव है।

अब कहते हैं – कि शुद्धात्मभावना पूर्वक एकाग्रता को प्राप्त योगी जीवन्मुक्त है :-

परम एकाग्रता से जीवन्मुक्ति

तदैकाग्र्यं परं प्राप्तो निरुन्धन्नशुभास्रवम् ।
क्षपयन्नर्जितं चैनो जीवन्नप्यस्ति निर्वृतः ॥५९॥

परम लीन योगीश्वर गण अशुभास्रव का निरोध करते।
पूर्व कर्म क्षय करते, जीवित रहें किन्तु निर्वृत्त रहें॥५९॥

अन्वयार्थ :- [**तत्परम् ऐकाग्र्यम् प्राप्तः**] उस परम एकाग्रता को प्राप्त हुआ योगी [**अशुभ-आस्रवम् निरुन्धन्**] अशुभ आस्रवों को रोकता हुआ [**अर्जितं च क्षपयन्**] और पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करता हुआ [**एनः जीवन् अपि निर्वृतः अस्ति**] जीवित रहते हुए भी निर्वृत है – जीवन मुक्त है।

व्याख्या :- जो योगी उक्त प्रकार की परम-एकाग्रता को प्राप्त होता है, उसके सब अशुभ आस्रव रुक जाते हैं, अर्जित पापों का नाश होता जाता है, इसप्रकार वह जीवित रहता हुआ भी जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कराने वाली ऐसी परम-एकाग्रता, शुक्लध्यान की एकाग्रता है, जिससे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नाम के चार घातिया कर्म निर्जीरित हो जाते हैं। भाव मोक्ष, केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवन्मुक्त, अर्हन्तपद ये सब एकार्थ-वाचक है।[१]

---

१. भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्ति, जीवनमुक्तोऽर्हत्पदामित्येकार्थः)
– आचार्य जयसेन पंचास्तिकाय टीका

इसप्रकार निज शुद्धात्मा में परम-एकाग्रतारूप योग में बहुत बड़ी शक्ति है।

जो योगी ध्यान का सर्वोत्तम अभ्यास करता है परन्तु चरमशरीरी नहीं है तो उसके समस्त अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा संवर होता रहता है। उसके प्रत्येक क्षण में बहुत से पुण्य कर्मों का आस्रव होता रहता है, जिनके उदय से वह कल्पवासी देवों में अनेक बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाला देव होता है। यदि वह योगी चरमशरीरी हुआ तो उसे उसी भव से मोक्ष प्राप्त होता है और चरमशरीरी नहीं हुआ तो उसे अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त होता है।

अब कहते हैं कि योगी सर्व-कर्म के त्याग की भावना भाता हुआ चारित्र में प्रवर्तमान होता है –

योगी के सर्वकर्म त्याग की भावना

यद्भावकर्मरागादि यद्ज्ञानावरणादि तत्।
द्रव्यकर्म यदङ्गादि नोकर्मोज्झामि तद् बहिः॥६०॥

भावकर्म रागादिक ज्ञानावरणादिक जड़ कर्म तथा।
देहादिक नोकर्म बाह्य द्रव्यों को मैं हूँ अब तजता॥६०॥

अन्वयार्थ :- [**यत् रागादि भावकर्म**] जो रागादिरूप भावकर्म हैं, [**यत् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म**] जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं [**यत्** (च) **अङ्गादि नोकर्म**] और जो शरीरादि नोकर्म हैं, [**तत् बहिः**] वे सब (मेरे आत्मस्वभाव से) बाह्य-पदार्थ हैं, [**तत्** (अहम्) **उज्झामि**] उन्हें मैं छोड़ता हूँ।

व्याख्या :- रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और जो शरीरादि रूप नोकर्म हैं वे सब मेरे स्वरूप से बाह्य हैं, साधक जीव ऐसा समझकर उन्हें त्यागने की भावना रखता है। इस भावना तथा तदनुकूल प्रवृत्ति से कर्मों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों अथवा

कर्मफलों में आसक्ति घटती है और एक दिन उन सबसे निवृत्ति की भी प्राप्ति होती है।

भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म का त्याग करने की भावना वाला ज्ञानी समस्त कर्मों का त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है – यह भाव आचार्य अमृतचन्द्र निम्नप्रकार से समयसार कलश-२२५ में व्यक्त करते हैं :-

''कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्यकर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे॥

अर्थ :- त्रिकाल के समस्त कर्म को कृत-कारित-अनुमोदना से और मन-वचन-काय से त्याग करके मैं परम नैष्कर्म्य – उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हूँ।

भावार्थ :– ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि को यह ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्मफल से रहित हूँ, परन्तु वह पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होने वाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके अर्थात् बारम्बार चिंतवन करके, चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता है। आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से योगी की वृत्ति निवृत्त है। अन्य जो उपयोग की क्रिया – विभावरूप क्रिया उसमें उसकी परिणति प्रवृत्ति नहीं करती।

कर्मरूप और कर्मफलरूप उपयोग को करना, उसी की ओर एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना अज्ञान चेतना है। उससे कर्म का बंध होता है, जो ज्ञान (आत्मा) की शुद्धता को रोकता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र – उपयुक्त होकर उस ओर का ही ध्यान रखना वह ज्ञान का संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध

होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है। मोक्षार्थी पुरुष अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिए सकल (आठों) कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को व सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाकर – स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतना को – एक को ही सदैव नचाता है। ज्ञानचेतना को परिणति में उत्पन्न व पूर्ण करने का पुरुषार्थ करता है, कर्म व कर्मफल के संन्यास की भावना अर्थात् ज्ञानचेतना को उत्पन्न करके अज्ञानचेतना का अभाव करते हुए कर्म-बन्ध का अभाव करता है।''

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश-२३३ में साधक जीवों को कर्मचेतना व कर्मफल चेतना के त्याग की भावना करके, अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर, ज्ञान चेतना को नचाते हुए सदाकाल आनन्दरूप रहने का उपदेश देते हैंः-

''**अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,**
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयमखिलाज्ञान संचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्दं नाट्यन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु॥

अर्थ :- ज्ञानीजन, अविरतपने से कर्म से और कर्मफल से अत्यन्त विरति को भाकर (इस भांति) समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर, निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके, अपनी ज्ञानचेतना को आनन्द पूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस पिओ अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिक अमृतरूप रस को अभी से लेकर अनन्तकाल तक पिओ।''

ज्ञानीजनों की साधकदशा की भावना का यह स्वरूप है। और इसका फल स्वाधीन सुखमय दशा की प्राप्ति है।

आचार्य अमृतचन्द्र सकल कर्म व कर्मफल का त्याग करने की ज्ञानी की भावना को समयसार कलश-२३१ में कहते हैं :-

''निःशेषकर्मफल संन्यसनान्ममैवं,
सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता॥

अर्थ :- पूर्वोक्त प्रकार से समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से मैं चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्वक्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है। इसप्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे यह काल की आवली जो कि प्रवाहरूप से अनन्त है, वह आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे, उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाये।''

ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है, क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है।

भावकर्म का स्वरूप

भाव्यतेऽभीक्ष्णमिष्टार्थ प्रीत्याद्यात्मतयात्मना।
वेद्यते यत्करोतीमं यद्वशे भावकर्म तत्॥६१॥

इष्ट अर्थ की प्रीतिरूप अपनेपन से भाये जाते।
इनके वश हो कर्त्ता-भोक्ता भावकर्म ये कहलाते॥६१॥

अन्वयार्थ :- [**यद् आत्मना**] जो आत्मा के द्वारा [**इष्टार्थ-प्रीति-आदि**] इष्ट अर्थ की प्रीति आदि के रूप से [**अभीक्ष्णम् आत्मतया भाव्यते**] निरन्तर अपनेपने से भाया जाता है [**यत्–वशे च**] और, जिसके वशीभूत होकर जीव [**इमम् करोति वेद्यते**] इनको करता है तथा वेदता है, [**तत् भावकर्म**] वह भाव कर्म है।

व्याख्या :- जिसका सदा राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप अनुभव हुआ करता है और जो (जीव का परिणाम) कर्मरूप पुद्गलपिण्ड के बँधने में निमित्तरूप होता है उस शक्ति को भावकर्म कहते हैं।

''कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु॥६॥

– गोम्मटसार कर्मकाण्ड

सामान्यपने से कर्म एक ही है, उसमें भेद नहीं है। लेकिन द्रव्य व भाव के भेद से उसके दो प्रकार हैं। उसमें ज्ञानावरणादि रूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उस द्रव्यपिण्ड में फल देनेवाली जो शक्ति, वह भावकर्म है। अथवा कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से उत्पन्न हुए जो अज्ञानादि वा क्रोधादिरूप परिणाम हैं, वे भी भावकर्म ही हैं।''

आचार्य जयसेन समयसार गाथा १९०-१९२ की तात्पर्यवृत्ति टीका में भावकर्म दो प्रकार का बताते हैं :-

''भावकर्म दो प्रकार का होता है – जीवद्रव्यगत व पुद्गलद्रव्यगत। भाव-क्रोधादि व्यक्तिरूप जीवगत-भावकर्म है और पुद्गलपिण्ड शक्तिरूप पुद्गलद्रव्यगत-भावकर्म है। जैसे मधुर अथवा कड़वे पदार्थ को खाने के समय जीव को जो मधुर या कड़वे स्वाद की व्यक्तदशा का विकल्प उत्पन्न होता है वह जीवगत भावकर्म है; और उस व्यक्तदशा के कारणभूत मधुर-कड़वे द्रव्य में रहनेवाला शक्ति का अंश-विशेष होता है वह पुद्गलद्रव्यगत भाव है। इसप्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत दो प्रकार का है – ऐसा भावकर्म के व्याख्यान में सर्वत्र जानना चाहिये।''

द्रव्यकर्म का स्वरूप

बोधरोधादिरूपेण बहुधा पुद्गलात्मना।
विकायति चिदात्मापि येनात्मा द्रव्यकर्म तत् ॥६२॥

जिन जड़-कर्मों द्वारा ज्ञान-निरोध आदि विकृत पर्याय।
चेतन होने पर भी आत्मा में हों द्रव्य-कर्म कहलाय॥६२॥

अन्वयार्थ :- [**चिदात्मा अपि आत्मा**] चैतन्य स्वरूप होने पर भी आत्मा [**येन पुद्गलात्मा** (कर्मणा)] जिस पुद्गलात्मक (कर्म) द्वारा (बहुधा) प्रायः [**बोध-रोध-आदि-रूपेण**] ज्ञान के विकास को रोकने आदि रूप से [**विकायति**] विकारी अवस्था को प्राप्त होता है, [**तत् द्रव्यकर्म**] वह द्रव्यकर्म है।

व्याख्या :- उस पुद्गल समूह का नाम द्रव्यकर्म है जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवृत अथवा विकृत करने की शक्ति व प्रकृति से सम्पन्न होता है। आत्मा के गुणों को आवृत या विकृत करने की प्रकृति के अनुसार इन पुद्गल कर्म समूहों के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय आठ भेद होते हैं। इनके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं। दर्शनावरण-ज्ञानावरण कर्म आत्मा के दर्शन-ज्ञान गुण को आवृत (ढकते) करते हैं। अन्तरायकर्म वीर्य गुण को आवृत्त करता है। मोहनीयकर्म आत्मा के श्रद्धा एवं सुख गुण को आवृत्त व विकृत करता है।

ये पुद्गल-समूह आत्मा के साथ बंध-अवस्था को प्राप्त रहने तक कर्म कहलाते हैं। ये कर्म-पुद्गल अपनी स्थिति को पूर्ण कर जब अबंध अवस्था को प्राप्त होते हैं तब अपनी शक्ति व प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। इन कर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा अपने शुद्धस्वरूप से च्युत होता है। अपने शुद्धस्वरूप से च्युत होता हुआ आत्मा कर्म के उदय से जुड़ने पर कर्मभाव के अनुसार प्रवृत्ति किया करता है।

द्रव्यकर्म की (१) प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग बंध (२) सत्व (३) उदय (४) उदीरणा (५) संक्रमण (६) उत्कर्षण (७) अपकर्षण (८) उपशांत (९) निधत्ति (१०) निकाचित – ये दस अवस्थायें हैं। जीव के भावों के निमित्त से ही द्रव्यकर्म इन दस अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं।

नोकर्म का स्वरूप

यद्जीवेऽङ्गादि तद्वृद्धि-हान्यर्थः पुद्गलोच्चयः।
तथा विकुरुते कर्मवशान्नोकर्म नाम तत् ॥६३॥

जीवों में कर्मोदय के वश देहादिक सब अर्थ विशेष।
वृद्धि-हानिमय जो पुद्गल हों वे नोकर्म कहें परमेश॥६३॥

अन्वयार्थ :- [**कर्मवशात्**] कर्मोदय के वश [**यत् पुद्गलोच्चयः**] जो पुद्गल-समूह [**जीवे**] जीव में [**अंगादि तद्-वृद्धि-हानि–अर्थम् विकुरुते**] शरीर तथा उसकी वृद्धि-हानि आदि रूप अर्थ को विशेष रूप से करता है, [**तत् नाम नोकर्म**] उसका नाम नोकर्म है।

व्याख्या :- संसारी जीवों के शरीर आदि की प्राप्ति, उसकी पुष्टि और क्षीणता का निमित्त पुद्गल परमाणुओं के समूहरूप पुद्गल कर्म होता है। नामादि पुद्गल कर्मों के उदयानुसार जीव के अंगोपांग-रूप जो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन होता है उसे नोकर्म कहा जाता है। यहाँ नो का अर्थ कथंचित् या किंचित् है। जिसप्रकार जीव के परिणमन में द्रव्यकर्म निमित्तरूप होते हैं उसी प्रकार शरीरादि भी निमित्त बनते हैं, परन्तु वे नोकर्म द्रव्यकर्म के समान नहीं होते।

नोकर्म में नो शब्द का अर्थ ईषत् और विरुद्ध भी होता है। औदारिक आदि शरीर द्रव्यकर्मों के सहायक होने से ईषत् कर्म या नोकर्म हैं। वे शरीर द्रव्यकर्म की तरह आत्मा के गुणों के घातक नहीं हैं, न चतुर्गति आदि रूप परतंत्रता के हेतु हैं। अतः कर्म से भिन्न

ईषत् कर्म होने से तथा कर्मों के सहायक होने से शरीरों को नोकर्म कहा है।

आचार्यों ने नोकर्म की परिभाषायें निम्नानुसार दी है :-

शरीर-पर्याप्ति-योग्य पुद्गलाऽऽदानं नोकर्म।

– न्याय कुमुदचन्द्र

शरीरत्रयपर्याप्तिषट्कयोग्य पुद्गल परिणामो नोकर्म।

– आचार्य अभयचन्द्र, लघीयस्त्रय टीका

अर्थ :- औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तीन प्रकार का देह और षट् पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन) के योग्य पुद्गल के परिणाम तथा आदान – ग्रहण को नोकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा-२४४ में कर्म और नोकर्म का स्वरूप इसप्रकार बताया है :-

''ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणाम कम्मुदये।
चउणोकम्मसरीरा, कम्मेव य होदि कम्मइयं॥

अर्थ :- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस नामकर्म के उदय से होने वाले चार शरीरों को नोकर्म कहते हैं और कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।''

सर्वकर्म एवं कर्मफल संन्यास की भावना वाला योगी, जिसे उपादेय एवं हेयतत्त्व मानता है, उसका स्वरूप कहते हैं :-

स्वात्मोपलब्धि के लिए हेय-उपादेय

व्यवहारेण मे हेयमसद्ग्राह्यं च सद्बहिः।
सिद्धयै निश्चयतोऽध्यात्मं मिथ्येतर दृगादिकम्॥ ६४॥

सिद्धि प्राप्ति के हेतु सुनिश्चय दर्शनादि हैं ग्राह्य मुझे।
इससे भिन्न दर्शनादिक-व्यवहार नहीं हैं ग्राह्य मुझे॥६४॥

अन्वयार्थ :- [**सिद्धयै**] सिद्धि-स्वात्मोपलब्धि के लिए [**निश्चयतः**] निश्चयनय से [**अध्यात्मम्**] अध्यात्म विषयक [**मिथ्येतर दृगादिकम्**] सम्यक् दर्शनादि [**मे**] मेरे लिए [**ग्राह्यम्**] उपादेय हैं [**च**] और [**सद्बहिः**] उससे भिन्न [**व्यवहारेण**] व्यवहारनय से कहे गये सम्यक् दर्शनादिक [**हेयम्**] (स्वात्मोपलब्धि के लिए) हेय हैं, [**च असत्**] और असत् हैं।

व्याख्या :- सिद्धि-स्वात्मोपलब्धि (स्व+आत्मा+उपलब्धि) अर्थात् निज शुद्धात्मा की प्राप्ति। राग व अपूर्णता का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा को जो परमज्ञानरूप परमानन्ददशा प्राप्त होती है, उस आत्म परिणति की प्राप्ति स्वात्मोपलब्धि है, वह ही निर्वाण है, मोक्ष है।

निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम-निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल पूर्णतया स्वात्मोपलब्धि है।

(तात्पर्यवृत्ति टीका नियमसार गाथा-२)

पं. आशाधरजी ने स्वात्मोपलब्धि के लिये अध्यात्म विषयक सम्यग्दर्शनादि को उपादेय रूप कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी इसी बात को नियमसार गाथा-३ में इसप्रकार कहते हैं -

''णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥

अर्थ :- नियम अर्थात् नियम से (निश्चित) जो करने योग्य हो वह अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्र। विपरीत के परिहार हेतु से (ज्ञान-दर्शन-

चारित्र से विरुद्ध भावों का त्याग करने के लिये) वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा है।''

उपादेय रूप, प्रयोजन स्वरूप, निश्चय से करने योग्य आत्मा की निरुपचार रत्नत्रयरूप जो अभेद परिणति है वह मोक्ष अर्थात् महा आनन्द की उपलब्धि का उपाय है। उसके अन्तर्भूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। आत्मा की इस वीतराग परिणति को ही निश्चय रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय, अभ्यंतर रत्नत्रय, स्वभाव रत्नत्रय कहा गया है। यह परिणति पूर्णतः निज शुद्धात्मा के आश्रित है। इसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र अन्तर्भूत हैं, तीनों का एकरूपपना है। यह परिणति पर की तथा भेदों की अपेक्षा से रहित है।

वह ही अर्थात् आत्म विषयक शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही मोक्षार्थी को उपादेय है। पण्डित आशाधरजी ने इस परिणति को '**अध्यात्म मिथ्येतर दृगात्मक**' कहा है।

निरुपचार रत्नत्रयरूप अभेद परिणति में अन्तर्भूत रहे हुये ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा-३ में निम्नतः भिन्न-भिन्न निरूपित किया गया है :-

(१) ज्ञान – परद्रव्य का अवलम्बन लिये बिना निःशेषरूप से अन्तर्मुख योग शक्ति में से उपादेय (उपयोग को सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परमतत्त्व (शुद्ध-अन्तस्तत्त्व स्वरूप स्वद्रव्य) का परिज्ञान (जानना) सो ज्ञान है।

(२) दर्शन – भगवान परमात्मा के सुख के अभिलाषी जीव को शुद्ध अन्तःतत्त्व के विलास (क्रीड़ा) का जन्मभूमि स्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न होनेवाला जो परम श्रद्धान, वही दर्शन है।

(३) चारित्र – निश्चय ज्ञानदर्शनात्मक कारण परमात्मा में अविचल स्थिति (निश्चलरूप से लीन रहना) वही चारित्र है।

यह रत्नत्रय निर्वाण का कारण होने से उपादेय है। इससे भिन्न जीव के सभी भाव निर्वाण का कारण (उपाय) न होने से हेय हैं।

बृहद्-द्रव्य संग्रह की गाथा-४० की टीका में श्रीब्रह्मदेवसूरि सुख की मुख्यता से निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं :-

''रागादि-विकल्प-उपाधि-रहित, चिच्चमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुररस के आस्वादरूप सुख मैं हूँ-ऐसी निश्चय रुचिरूप सम्यक्दर्शन है।''

उसी सुख को समस्त विभावों से स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा पृथक् जानना – वह सम्यक्ज्ञान है।

उसी प्रकार दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगों की आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न संकल्प-विकल्प के जाल के त्याग द्वारा उसी सुख में लीन-संतुष्ट-तृप्त और एकाकार परम-समरसीभाव से भीगे हुये चित्त को पुनः पुनः स्थिर करना वह सम्यक् चारित्र है।''

उक्त कथित लक्षण निश्चय-रत्नत्रय आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं रहता, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्रमय निज आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका (एकत्व सप्तति) श्लोक-३२१ में निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप इसप्रकार कहा है :-

''दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इश्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

अर्थः- आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में ही स्थिति वह सम्यग्चारित्र है। ऐसा योग शिवपद का कारण है।''

व्यवहारनय विकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहता है, परन्तु निश्चयनय से वह रागरूप व बंध का कारण होने से हेय (छोड़ने योग्य) ही है।

वीतराग प्रणीत छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान और व्रतादि के आचरण के विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग स्वशुद्धात्म भावना का साधक और बाह्य पदार्थाश्रित है। यह धातु पाषाण में अग्नि समान साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग सुवर्ण समान निर्विकार निजात्मा की उपलब्धिरूप साध्य है।

व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१०७ में इस प्रकार कहा हैः-

''सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं॥

गाथार्थ :- भावों (नव पदार्थों) का श्रद्धान वह सम्यक्त्व है, उनका अवबोध वह ज्ञान है, निज तत्त्व में जिनका मार्ग विशेष रूढ हुआ है उन्हें विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव वह चारित्र है।''

व्यवहार मोक्षमार्ग विशेष-विशेष शुद्धि का व्यवहार साधन बनता है, इसलिए व्यवहारनय से निश्चय मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है। यह उपचरित कथन है। वास्तव में मुनि को प्रमत्त अवस्था में वर्तते हुये शुद्धपरिणति-मिथ्यात्व व तीन कषाय के अभावरूप शुद्धता के अंश को और अप्रमत्त अवस्थारूप निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य-साधनपना है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में जितनी परसमय प्रवृत्ति है वह बंध का कारण है। वह मोक्षरूप कार्य से विरुद्ध कार्य (संसार) का कारण

है। इसलिये 'स्वसमय प्रवृत्ति' नामक जो जीवस्वभाव में नियत चारित्र है उसे ही साक्षात् मोक्षमार्गपना (सिद्धि का साधन) घटित होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१६६ में दर्शाते हैं कि –

''अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थ :- अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (अर्हंतादि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।''

इसलिये सर्वत्र राग की कणिका-सूक्ष्म प्रशस्त राग भी त्यागने योग्य है। व्यवहार मोक्षमार्ग परसमय प्रवृत्ति व रागरूप होने से, नियम से स्वात्मोपलब्धि का साधन न होने से परिहरणीय (त्यागने योग्य) है।

मोक्षार्थ हेय उपादेय मार्ग का स्वरूप पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार टीका के कलश-१२२ में कहते हैं :-

''त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहार मार्ग
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे॥

श्लोकार्थ : जो निजतत्त्ववेदी मतिमान पुरुष समस्त विभाव को तथा व्यवहार मार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत (शुद्धात्म तत्त्व परायण) ऐसा एक निजज्ञान, दूसरा श्रद्धान और फिर दूसरा चारित्र का आश्रय करता है।''

– इसप्रकार समस्त विभाव भाव और शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा के प्रति जो तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थितिरूप अभिमुखतारूप –

ऐसा भेदरूप व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षार्थी को हेय है और केवल शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा की प्रतीति, अनुभूति और स्थिति में उपयोग की प्रवृत्ति ही मोक्ष की साक्षात् कारण होने से उपादेय है। उससे ही योगी की सर्वकर्म और कर्मफल संन्यास की भावना फलीभूत होकर अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि

न मे हेयं न चाऽऽदेयं किंचित्परमनिश्चयात्।
तद्यत्नसाध्या वाऽयत्नसाध्या वा सिद्धिरस्तु मे ॥६५॥

परम शुद्ध निश्चय से मुझको, हेय नहीं कुछ ग्राह्य नहीं।
यत्नसाध्य या सहजसाध्य हो सिद्धि प्राप्ति हो बस मुझको ॥६५॥

अन्वयार्थ :- [**परम-निश्चयात्**] परम-निश्चय नय से [**मे न किञ्चित् हेयम् न च आदेयम्**] मेरे लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय। [**मे सिद्धिः अस्तु**] मुझे तो सिद्धि/स्वत्मोपलब्धि होवे [**तत् यत्न-साध्या अयत्न-साध्या वा**] चाहे वह यत्न-साध्य हो या अयत्न-साध्य।

व्याख्या :- परमशुद्ध निश्चयनय से आत्मा को देखने वाले ज्ञानी को तो कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध ही दृष्टि में रहते हैं। उसे शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना नहीं होती। जब शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना ही न हो तो हेय-उपादेय के विकल्प भी नहीं होते। उसके लिए तो त्रिकाली-ध्रुव शुद्ध सदा-निरावरण अखण्ड-अभेद एक परम-परिणामिकभावस्वरूप शुद्धजीवास्तिकाय स्व है, शेष समस्त भाव पुद्गल के भाव होने से परभाव हैं, हेय हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार के शुद्धभाव अधिकार गाथा-५० में तत्त्ववेदी का भाव निम्नप्रकार से व्यक्त करते हैं -

''पुव्वुत्तसयलभावा पर दव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा॥

अर्थ :- पूर्वोक्त सर्व भाव (व्यवहारनय के आश्रय से संसारी जीवों में कहे जाने वाले भाव) परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं। अन्तःतत्त्व – ऐसा स्वद्रव्य आत्मा उपादेय है।''

जो कारणपरमात्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि-जनित विभाव गुण-पर्यायों से रहित है, तथा अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय-स्वभाव वाला शुद्ध सहज परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है – ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में आत्मा है। अति आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।

नियमसार टीका श्लोक-७४ में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि ऐसे तत्त्ववेदी अपूर्व सिद्धि को पाते हैंः-

''न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावा।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्ववेदी सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥

अर्थ :- शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गल द्रव्य के भाव, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं – ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्ट रूप से कहता है, वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है।''

नियमसार टीका कलश-७२ में भी कहा है :-

''शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारूधिषणा वन्दामहे तं वयम्॥

अर्थ :- शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना मिथ्यादृष्टि को सदैव होती

है, सम्यग्दृष्टि को तो सदा ऐसी मान्यता होती है कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। इसप्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचार वाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं।''

जिस तत्त्ववेदी साधक को कारणतत्त्व (द्रव्य) और कार्यतत्त्व (पर्याय) दोनों सदा शुद्ध अनुभव में आते हैं उसे पर्याय में शुद्धता-अशुद्धतारूप भेद दृष्टि में नहीं आते, केवल शुद्धता ही दृष्टि में आती है। हेय-उपादेय का भेद तो तब उत्पन्न होता है जब शुद्धता व अशुद्धता दिखाई दे। शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता के अभाव की अपेक्षा नियमसार श्लोक-६४ में हेय-उपादेय की व्याख्या की गई है। परमागम के अतुल अर्थ को जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है उसे पर पदार्थ और जीव की पर्याय में उत्पन्न समस्त परभाव परद्रव्यरूप अनुभव में आते हैं, अर्थात् अपनी सत्ता में उनका अत्यन्त अभाव भासित होने से परपदार्थ अथवा परभाव में हेय-उपादेय का भेद-विकल्प पैदा ही नहीं होता। उसे तो केवल स्वात्मोप्लब्धि रूप सिद्धि चाहिये जो यत्न साध्य हो या अयत्न (सहज) साध्य हो। वह स्वात्म उपलब्धि के लिए पर-सापेक्ष कोई उपाय करने के प्रति भी अत्यन्त उदासीन होता है। उसे तो हेय-उपादेय का भेद भी राग-द्वेषरूप ही भासित होता है।

हेय-उपादेय का भेद नय विकल्पों में होता है। सम्यग्दृष्टि (तत्त्व वेत्ता) जिस भूमिका में बहुत से विकल्पजाल अपने आप उठते हैं ऐसी बड़ी नयकक्षा का उल्लंघन करके भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश-९१ में ऐसे तत्त्ववेत्ता की भावना को इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

''इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्प वीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥

अर्थ :- विपुल, महान, चंचल, विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उठते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ अर्थात् चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों के विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण अस्त को प्राप्त होता है– ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ।''

पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार कलश-७३ में शुद्धतत्त्व के रसिक की भावना को इसप्रकार व्यक्त करते हैं:-

''शुद्ध निश्चयनयेन विमुक्तौ संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे शुद्धतत्त्वरसिका प्रवदन्ति॥

अर्थ :- शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में और संसार में अन्तर नहीं है, ऐसा ही वास्तव में तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।''

आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र श्लोक-४७ में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की हेय-उपादेय सम्बन्धी बुद्धि का अन्तर बताते हुए कहते हैं:-

''त्यागादाने बहिर्मूढ़ः करोत्यध्यात्मात्मवित्।
नान्तर्बहिरूपादानं न त्यागो निष्टितात्मनः॥

अर्थ :- मूर्ख मिथ्यादृष्टि बाह्य पदार्थों में (इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके) त्याग और ग्रहण करता है आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि अपने भीतर त्याग और ग्रहण करता है (राग-द्वेषादि भावों व अंतरंग-बहिरंग विकल्पों को तो त्यागता है और चिदानन्दमयी स्वभाव को ग्रहण करता है) और निष्टितात्मा (कृतकृत्य आत्मा) के अन्तरंग या बहिरंग न तो कुछ ग्रहण ही होता है और न कुछ त्याग ही होता है। वे आत्म मग्न हुए हैं, उन्हें त्याग-ग्रहण का कोई विकल्प ही नहीं उठता।''

अब जिनशासन का रहस्य बताकर कर्तृत्वभाव के त्याग का उपदेश देते हैं :-

कर्तृत्व का त्याग और भवितव्यता का ग्रहण

भवितव्यतां भगवतीमधियन्तु रहन्त्वहं करोमीति ।
यदि सद्गुरूपदेशव्यवसित-जिनशासनरहस्या: ॥ ६६॥

गुरु-उपदेशों से जिन-शासन सार समझने का व्यवसाय।
किया, अत: कर्तृत्व-भाव तज होनहार का लो आश्रय ॥६६॥

अन्वयार्थ :- [**यदि सद्गुरु-उपदेश-व्यवसित-जिनशासन-रहस्या:**] यदि सद्गुरु के उपदेश से जिन-शासन के रहस्यों को समझने का व्यवसाय (उद्यम) किया है तो [**'अहम् करोमि' इति रहन्तु**] 'मैं करता हूँ'– इसप्रकार की कर्तृत्व-भावना से बस होओ और [**भगवतीम् भवितव्यताम् अधियन्तु**] भगवती (सामर्थ्यवान) भवितव्यता का आश्रय करो।

व्याख्या :- सर्वज्ञों के ज्ञान में वस्तु स्वभाव इसप्रकार जानने में आया है –

१. धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीव द्रव्यस्वरूप लोक है।

२. सभी पदार्थ अपने स्वरूप से एकत्व पूर्वक अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमन करते हैं। जो पदार्थ इसप्रकार परिणमन करता सो (वह) समय है।

३. प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अनन्त धर्मों के समूह को स्पर्श करते हैं – तथापि परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते।

४. लोक में छः द्रव्य अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन नहीं करते।

५. पररूप परिणमन न करने से उनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भांति शाश्वत स्थित रहते हैं।

६. वे पदार्थ समस्त विरुद्ध कार्य (उत्पाद-व्यय) और अविरुद्ध कार्य (ध्रौव्य) दोनों की हेतुता से सदा विश्व का उपकार करते हैं, टिकाये रखते हैं। उनकी पर्यायों में एक समय-विशेष पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनता है, परन्तु दो द्रव्यों की पर्यायों के मध्य कर्ता-कर्म सम्बन्ध कदापि नहीं होता।

७. सर्व पदार्थ अपने स्वभाव में रहते हुए शोभा पाते हैं, परन्तु जीव नामक पदार्थ (समय) को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति आती है।

८. जीव नामक पदार्थ की अनादिकाल से पुद्गल कर्म के साथ निमित्तरूप बन्ध अवस्था है, उससे जीव में विसंवाद (शुद्ध-अशुद्ध भाव) खड़ा होता है, उससे जीव शोभा को प्राप्त नहीं होता। जीव का एकत्व अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित रहना ही सुन्दर है, उसी से जीव शोभा को प्राप्त होता है।

(समयसार ग्रन्थ की गाथा-३ की आत्मख्याति टीका)

जब जीव या पुद्गल पदार्थ में कोई विकार – विशेष कार्य होता है तो उपादान एवं निमित्तरूप दो कारणों की उचित अवस्थाओं के मिलने पर होता है। उपादान तो उस वस्तु की उस कार्यरूप परिणमन करने की सहज शक्ति है, जिसमें कार्य की उत्पत्ति होती है। निमित्त तो संयोगरूप कारण है। कार्य की उत्पत्ति के समय उपादान व निमित्त कारणों की योग्य स्थिति मिलती ही है। मोक्षमार्ग में भी विभिन्न अवस्थाओं (पर्यायों) की उत्पत्ति के समय उपादान व निमित्त दोनों कारण उपस्थित होते हैं, परन्तु कार्य तो वास्तव में उपादान कारण की सहज शक्ति से ही होता है, कार्य के समय उचित निमित्त उपस्थित

होता है परन्तु उसमें दूसरे पदार्थ को कार्यरूप परिणमन कराने की शक्ति नहीं होती है – यह जिनशासन का रहस्य है।

निमित्त से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, यह नियम इष्टोपदेश श्लोक-३५ में आचार्य पूज्यपाद प्रतिपादित करते हैं :-

''नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥

अर्थ :- अज्ञ को उपदेशादि निमित्तों द्वारा विज्ञ नहीं किया जा सकता, न विज्ञ को अज्ञ ही कर सकते हैं, क्योंकि पर-पदार्थ निमित्त मात्र हैं। जैसे धर्मास्तिकाय स्वयं चलते जीव और पुद्गलों को निमित्त मात्र होता है, उसीप्रकार अन्य पदार्थ भी निमित्तमात्र हैं।''

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं, मैं पर-जीवों को जिलाता हूँ और पर-जीव मुझे जिलाते हैं, मैं पर-जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ और पर-जीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं – ऐसी मान्यतायें अज्ञान हैं। इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख, सुख सब सदैव अपने कर्मोदय से होता है; 'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण-जीवन, दुःख-सुख को करता है' – ऐसा जो मानता है वह तो अज्ञान है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में समयसार कलश-१६९ में लिखते हैं :-

''अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति॥

अर्थ :- इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके

जो पुरुष पर से पर के मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं वे पुरुष, जो इसप्रकार अहंकार रस से कर्मों को करने के इच्छुक (जो पर को मारने-जिलाने का, सुखी-दुःखी करने का अभिप्राय रखते हैं) हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं अपने आत्मा का घात करने वाले हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं।''

यह जो बुद्धि है कि 'मैं करता हूँ' – मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, मैं जीवों को मारता-जिलाता हूँ, यह अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना (मान्यता) अज्ञानमय अध्यवसाय है – मोहरूप बुद्धि है– मूढ़ता है, शुभाशुभ भाव कर्मबंध का कारण है, इसलिए इस मान्यता को छोड़ो। जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मोदय से होता है। जो न मरता है न दुःखी होता है वह भी वास्तव में उसके कर्मोदय से होता है। इसलिए इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो।

जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाता है। कर्तृत्व के अहंकार से पीड़ित हुआ संसारी प्राणी मन्त्र-तन्त्रादि अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी सुखादि कार्यों के करने में समर्थ नहीं होता।

इस जाति के अहंकार से दुःखी आत्मा को लक्ष्य में लेकर आचार्य समन्तभद्र स्वयंभू स्तोत्र श्लोक-३३ में उसे अनीश्वर – असमर्थ बताते हुए कहते हैं :-

''अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाऽऽविष्कृत-कार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥

अर्थ :- हेतुद्वय (उपादान-निमित्त) से उत्पन्न होने वाला कार्य

ही जिसका ज्ञापक है ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलंघ्य है अर्थात् उसकी शक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। जबकि भवितव्यता से अनभिज्ञ यह निरीह संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' – इसप्रकार के अहंकार से पीड़ित रहता है, तथापि भवितव्यता के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।''

जिनशासन का यह रहस्य है कि कोई भी परद्रव्य मेरे गुणों का हरण नहीं कर सकता, न उनको उत्पन्न कर सकता है। मैं किसी भी परद्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकता अथवा उनका नाश भी नहीं कर सकता। इसलिए अन्य कोई जीव अथवा पुद्गल द्रव्य मुझ आत्मा पर अपकार या उपकार करते हैं या मैं किसी पर-जीव का उपकार या अपकार करता हूँ, यह मान्यता सर्वथा व्यर्थ-असत्य है। यहाँ तक कि मेरा शरीर भी मुझ आत्मा पर उपकार-अपकार करने में समर्थ नहीं और मैं शरीर के गुण व पर्यायों को उत्पन्न करने में असमर्थ हूँ। मैं शत्रु-मित्रादि के अचेतन स्वरूप शरीर को तो देखता हूँ, परन्तु उनकी आत्मा को देख नहीं पाता, इसलिए मैं उनका उपकार या अपकार अथवा अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता।

जिनशासन में मान्य वस्तुव्यवस्था के इस सिद्धान्त को आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा-३७२ में कहते हैं :-

''**अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।**
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥

अर्थ :- अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।''

अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता

होने से मैं पर का उपकार या अपकार कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्या है।

भगवती भवितव्यता का आश्रय क्यों ग्रहण करना चाहिये, इस जिज्ञासा का उत्तर आचार्य अमितगति २०८-२०९ योगसार में देते हैं:-

''ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम्॥
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन॥

अर्थ :- स्पर्शनेन्द्रियादि इन्द्रियों के विषयों को भोगने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप पर्यायों का हरन (नाश) नहीं होता, निरन्तर जिनकी सेवा की गई है ऐसे सच्चे गुरु भी अपने शिष्य में सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उत्पन्न नहीं कर सकते।

परिणमन-शील जीव की ये सम्यग्दर्शनादि पर्यायें स्वयं से उत्पन्न होती हैं और स्वयं विनाश को प्राप्त होती हैं। इसलिए जीव द्रव्य भी इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का दाता अर्थात् कर्ता-हर्ता नहीं है और न कोई परद्रव्य इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का उत्पाद तथा व्यय करता है।''

जैसे स्वभाव से निर्मल शंख अपने स्वभाव से ही शुक्लता में परिवर्तित होता है, अन्य किसी से नहीं; वैसे ही जीव पवित्र रत्नत्रय की आराधना में स्वयं प्रवृत्त होता है, अन्य किसी से नहीं।

इस सन्दर्भ में मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्न अंश द्रष्टव्य है –

''एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। कारण दो प्रकार के हैं (१) जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो (२) जिस कारण से कार्य की सिद्धि अवश्य हो। जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ

अन्य कारण मिले तो कार्य सिद्धि होती है, न मिले तो नहीं होती। जिस कारण से कार्य सिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे वहाँ अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की सिद्धि भी होती ही होती है।''

भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो कुछ होना है वह स्वयं ही होकर रहेगा – ऐसा समझकर बिलकुल निष्क्रिय होकर बैठ जाना, जिस कारण से कार्य की सिद्धि अवश्य हो, वह कार्य भी नहीं करना। जो ऐसा आशय ग्रहण करता है उसने जिनशासन के रहस्य को नहीं समझा। भवितव्यता के उक्त कथन से पुरुषार्थहीनता, अनुद्योग तथा प्रमाद का पोषण नहीं होता।

भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करने का तात्पर्य, यह नहीं लिया जाना चाहिये कि जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम न किया जावे। लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योग्य पुरुषार्थ तो किया ही जाना चाहिये, परन्तु कार्य में कर्तृत्व का अहंकार किंचित भी नहीं होना चाहिये। कार्य की उत्पत्ति तो जिस द्रव्य को कार्य रूप परिणमित होना है उस द्रव्य की तत् समय की योग्यता से होती है। अतः कर्तृत्व विषयक जीव का अहंकार निःसार है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि प्रवचनसार गाथा-८८ की टीका में पुरुषार्थ को अर्थक्रियाकारी (प्रयोजनभूतक्रिया का करने वाला) बताते हुए पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करने रूप अपनी परिणति का कथन करते हैं –

''इस अतिदीर्घ सदा उत्पातमय संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्र देव के इस तीक्ष्ण, असिधारा समान उपदेश को प्राप्त करके जो मोह-राग-द्वेष पर अतिदृढ़ता पूर्वक उसका प्रहार करता है वह ही हाथ में तलवार लिए हुए मनुष्य की भाँति शीघ्र ही समस्त दुःखों

से परिमुक्त होता है; अन्य व्यापार समस्त दुःखों से परिमुक्त नहीं करता। इसलिए सम्पूर्ण आरम्भ से (प्रयत्नपूर्वक) मोह का क्षय करने के लिए मैं पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ।''

मोक्षमार्ग प्रकाशक (पृ.३१२-३१३) में पुरुषार्थ का स्वरूप बहुत ही मार्मिक ढग से आया है, जो मूलतः द्रष्टव्य है, यहाँ भी उसका थोड़ा-सा अंश प्रस्तुत है –

''इसलिए जो जीव विचार शक्ति सहित हो और जिसके रागादि मन्द हो वह जीव पुरुषार्थ से, उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और रत्नत्रय की प्राप्ति हो। इस अवसर में तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये या तो मन्द-राग सहित विषय-कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहार धर्मकार्यों में प्रवर्ते तब अवसर तो चला जावेगा और वह जीव संसार में ही परिभ्रमण करेगा। इस अवसर में जो जीव तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखे उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो उपादेयरूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग की उपलब्धि के लिए इसका कर्त्तव्य तो तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम स्वयमेव होगा, उसमें जीव का कर्त्तव्य कुछ नहीं है। उसके होने पर जीव के स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धान तो यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना' परन्तु चारित्रमोह के उदय से रागादिक होते हैं। वहाँ तीव्र उदय हो तब तो विषयादि में प्रवर्तता है और मन्द उदय हो तब अपने पुरुषार्थ से धर्मकार्यों में व वैराग्यादि भावना में उपयोग को लगाता है, उसके निमित्त से चारित्रमोह मन्द हो जाता है – ऐसा होने पर देशचारित्र व सकल चारित्र अंगीकार करने का पुरुषार्थ प्रगट

होता है तथा चारित्र को धारण करके अपने पुरुषार्थ से धर्म परिणति बढ़ाये वहाँ विशुद्धता से कर्म की शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है और उससे कर्म की शक्ति अधिक हीन होती है। इसप्रकार क्रम से मोह का नाश करे तब सर्वथा परिणाम विशुद्ध होते हैं, उनके द्वारा ज्ञानावरणादि का नाश हो, तब केवलज्ञान प्रगट होता है। पश्चात् वहाँ बिना उपाय अघातिकर्म का नाश करके शुद्ध सिद्धपद को प्राप्त करता है। इसप्रकार उपदेश का निमित्त बने और अपना पुरुषार्थ करे तो कर्म का नाश होता है।

संसार में भ्रमण करते हुए जब कर्मों का (घातिया का) तीव्र उदय हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है, उपदेश भी कार्यकारी नहीं है। जब कर्मों का मन्द उदय हो तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे तो उपादेयरूप निर्धारित मोक्ष प्राप्त कर ले। मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो किंचित् विशुद्धता पाकर फिर तीव्र उदय आने पर निगोदादि पर्याय को प्राप्त करेगा। जैसे कोई पुरुष नदी के प्रवाह में पड़ा हो, वहाँ पानी का जोर हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है, उपदेश भी कार्यकारी नहीं है, और पानी का जोर थोड़ा हो तब यदि पुरुषार्थ करके निकले तो निकल आयेगा। न निकले तो धीरे-धीरे बहेगा और फिर पानी का जोर होने पर बहता चला जायेगा।''

आगे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र का स्वरूप, निश्चय व्यवहार नय से प्ररूपित किया गया है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

शुद्ध-बुद्ध-स्व चिद्रूपादन्यस्याभिमुखी रुचिः।
व्यवहारेण सम्यक्त्वं निश्चयेन तथाऽऽत्मनः ॥६७॥

शुद्ध-बुद्ध चिद्रूप आत्म की रुचि निश्चय सम्यक्त्व अहो।
अन्य पदार्थों की रुचि है सम्यग्दर्शन व्यवहार कहो॥६७॥

अन्वयार्थ :- [**शुद्ध-बुद्ध-स्व–चिद्रूपात् अन्यस्य अभिमुखी रुचि व्यवहारेण सम्यक्त्वम्**] अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप से भिन्न अन्य (सप्त-तत्व या देव-गुरु-शास्त्र आदि) पदार्थों के प्रति जो रुचि है वह व्यवहार से सम्यक्त्व है। [**तथा निश्चयेन आत्मनः** (अभिमुखी रुचिः)] तथा आत्माभिमुखी रुचि निश्चय से सम्यक्त्व है।

व्याख्या :- मोक्षमार्ग तो यथार्थत: एक ही है, तथापि जिनागम में निश्चय-व्यवहार रूप वर्णन है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है। सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित करना निश्चयनय से मोक्षमार्ग का निरूपण है। जो मोक्षमार्ग तो नहीं है, परन्तु मोक्षमार्ग का सहचारी भाव है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहारनय से मोक्षमार्ग का कथन है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है, 'सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार' – मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ.२४९

दूसरी विवक्षा में, शुद्ध द्रव्य (शुद्ध पर्याय परिणत द्रव्य, परनिमित्त रहित शुद्ध पर्याय) के आश्रित, अभिन्न साध्य-साधन भाव के आश्रय मोक्षमार्ग का प्ररूपण निश्चयनय का प्ररूपण है और स्वपर हेतुक पर्याय के आश्रित, भिन्न साध्य-साधन भाववाला प्ररूपण व्यवहारनय के आश्रयवाला प्ररूपण है।

जिस नय में साध्य व साधन अभिन्न अर्थात् एक प्रकार के हों वह निश्चयनय है। जिस नय में साध्य व साधन भिन्न प्ररूपित किये गये हों वह व्यवहारनय है। जैसे निर्विकल्प-ध्यान परिणत (शुद्धात्मज्ञान श्रद्धान-चारित्र परिणत) मुनि को निश्चय मोक्षमार्ग है क्योंकि यहाँ साध्य (मोक्षरूप) और साधन (मोक्षमार्गरूप) एक प्रकार के अर्थात् शुद्धात्मरूप (शुद्धात्म पर्यायरूप) हैं। व्यवहारनय से छठवें गुणस्थान में वर्तते हुए मुनि (द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत) शुद्धात्म स्वरूप के आंशिक आलम्बन

सहित तत्त्वार्थश्रद्धान, तत्त्वार्थज्ञान और पंचमहाव्रतादिरूप चारित्र व्यवहार नय से मोक्षमार्ग है क्योंकि (मोक्षरूप) साध्य स्वहेतुक पर्याय है और तत्त्वार्थश्रद्धानादिमय मोक्षमार्गरूप साधन स्वपरहेतुक पर्याय है।

निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप

सम्यग्दर्शन का भी जिनागम में दो प्रकार से निरूपण है। अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वरूप की रुचि/प्रतीति निश्चयनय से सम्यक्त्व है। अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वरूप से भिन्न षट्द्रव्यों तथा सप्ततत्त्वादि अभिमुख-रुचि व्यवहारनय से सम्यक्त्व है।

पण्डित आशाधरजी ने रत्नत्रय विधान के श्लोक-३५ व ३६ में व्यवहार-निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप इसप्रकार कहा है –

''स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप सात तत्त्वों के श्रद्धान को विद्वान व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं, प्रगाढ़ आनन्दमय और शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में समीचीन श्रद्धा होना निश्चय सम्यग्दर्शन है।''

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति कलश-६ में निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं:-

''एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥

अर्थ :- इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त (रहने वाला) है और शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा पूर्णज्ञानघन है और जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही यह आत्मा है। इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।

भावार्थ :- निश्चयनय से या शुद्धनय से आत्मा ज्ञायकमात्र एक आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यों से और अन्य द्रव्यों के भावों से अलग देखना – श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। तीर्थ (व्यवहार धर्म की) प्रवृत्ति के लिए नवतत्त्व जिनका लक्षण – ऐसे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के भेदरूप श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है। जब तक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। जब इन नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से बाहर प्रगट की गई तब इन समस्त भेदों को गौण करके शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेज-पुंज जो आत्मा है, उसका अनुभव होने पर एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

शुद्धनय आत्मस्वभाव को परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले रागादिक विभाव – ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर दोष नहीं रहता।''

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-१, सूत्र २ में कहा है –

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक-२२ में भी यही कहा है –

''जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्॥

अर्थ :- जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का सदाकाल विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान करना योग्य है। यह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।''

धातु पाषाण में अग्नि समान साधक वह व्यवहार मोक्षमार्ग है और सुवर्ण समान निर्विकार निजात्मा की उपलब्धिरूप साध्य वह निश्चय मोक्षमार्ग है। दौलतरामजी ने भी छहढाला में कहा है '**जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।**'

काल सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ वे वास्तव में भाव हैं। उन भावों का मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होने वाला जो अश्रद्धान उसके अभावस्वभाव वाला जो भावांतर (भिन्न भाव – नव पदार्थों के सम्यक् श्रद्धानरूप भाव) श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है, जो कि शुद्धचैतन्यरूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय (दृढ़ निश्चय) – निश्चय सम्यग्दर्शन का बीज है। छह द्रव्यरूप (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल) और नव पदार्थरूप (जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष) जिनके भेद हैं ऐसे धर्मादि के तत्त्वार्थश्रद्धानरूप भाव (धर्मास्तिकायादि की तत्त्वार्थ प्रतीतिरूप भाव) जिसका स्वभाव है, ऐसा 'श्रद्धान' नाम का भाव विशेष, व्यवहार सम्यक्त्व है।

'निश्चयनय की प्ररूपणा में – शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्त्व का विनिश्चय सम्यग्दर्शन है।' अथवा 'रागादि-विकल्प-उपाधि रहित चिच्चमत्कार की भावना (एकाग्रता) से उत्पन्न मधुर रस के आस्वाद रूप सुख मैं हूँ' – ऐसी निश्चय रुचिरूप सम्यग्दर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड़ गाथा-२० में व्यवहार व निश्चय के भेद से सम्यक्त्व के दो प्रकार कहते हैं :-

''**जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।**
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान ने जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और अपने आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है।''

ज्ञान की प्रधानता से कहें तो ज्ञेयतत्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार प्रतीति सम्यग्दर्शन पर्याय का लक्षण है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

निर्विकल्प-स्वसंवित्तिरनर्पित-परग्रहा ।
सज्ज्ञानं निश्चयादुक्तं व्यवहारनयात्परम् ॥६८॥

निर्विकल्प स्व-संवेदन है निश्चयनय से सम्यग्ज्ञान।
और पदार्थों का सविकल्प ग्रहण व्यवहार कहे सद्ज्ञान ॥६८॥

अन्वयार्थ :- [**अनर्पित–परग्रहा**] पर पदार्थों के ग्रहण को गौण किये हुए [**निर्विकल्प–स्वसंवित्तिः**] निर्विकल्प स्वसंवेदन को [**निश्चयादुक्तं सज्ज्ञानं**] निश्चयनय की दृष्टि से सम्यक्ज्ञान कहा गया है, [**व्यवहारनयात्परम्**] व्यवहार नय से पदार्थों के ग्रहणरूप सविकल्प ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा गया है ।

व्याख्या :- निश्चयनय से उस निर्विकल्प-स्वसंवेदन का नाम सम्यग्ज्ञान है जो स्वात्मा से भिन्न पर-पदार्थों के ग्रहण को गौण किये रहता है, और व्यवहारनय से सम्यग्ज्ञान उस सविकल्पज्ञान का नाम है जो पर-पदार्थों के ज्ञान को मुख्य किये रहता है।

काल सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ वे वास्तव में 'भाव' हैं। उन भावों का ही मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति होने पर, जो सम्यक् अध्यवसाय (सत्य समझ, यथार्थ अवभास, सच्चा अवबोध) होना वह व्यवहारनय की प्ररूपणा में सम्यग्ज्ञान है। जो कि कुछ अंशों में ज्ञानचेतना प्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि (आत्मानुभूति) का बीज है अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान के साथ में अंग-पूर्वगत पदार्थों का अवबोधन (जानना) सो सम्यग्ज्ञान है। अथवा सम्यग्दृष्टि जीव का पर-पदार्थों के ग्रहणरूप (जाननेरूप) सविकल्प ज्ञान व्यवहारनय से सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

''आत्मा और पर-पदार्थों के समूह को संशय-विमोह-विभ्रम रहित जानना वह सम्यग्ज्ञान है; वह साकार और अनेक भेदों वाला है।

निश्चयनय की प्ररूपणा में ज्ञानचेतना प्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि अर्थात् शुद्धात्मानुभूति वह सम्यग्ज्ञान है अथवा 'रागादि-विकल्प-उपाधि-रहित' चित्चमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुर रस के आस्वादरूप सुख को समस्त विभावों से स्वसंवेदनज्ञान द्वारा पृथक् जानना सम्यग्ज्ञान है।'' – बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा-४०

''ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी) अनुभूति सग्यग्ज्ञान पर्याय का लक्षण है।'' – प्रवचनसार टीका, गाथा-२४२

इसप्रकार सम्यग्ज्ञान सविकल्प भी होता है और निर्विकल्प भी। निश्चयनय की दृष्टि में निर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान है। इसे भावश्रुतज्ञान भी कहा गया है।

व्यवहारनय की दृष्टि में पर-पदार्थों के जाननेरूप ज्ञान, जो सविकल्प ही होता है सम्यग्ज्ञान है।

सविकल्प ज्ञान का स्वरूप

यदेव ज्ञानमर्थेन संसृष्टं प्रतिपद्यते।
वाचकत्वेन शब्दः स्यात्तदेव सविकल्पकम् ॥६९॥

ज्ञेयों के सम्मिश्रण से जो शब्दगम्य होता वह ज्ञान।
वाचक होते शब्द अतः सविकल्प रूप होता वह ज्ञान॥६९॥

अन्वयार्थ :- [**यदेव ज्ञानम् अर्थेन**] जो ज्ञान पदार्थ के साथ [**संसृष्टं प्रतिपद्यते**] सम्मिश्रित रूप से प्राप्त होता है [**वाचकत्वेन शब्दः स्यात्तदेव सविकल्पकम्**] उसका वाचक शब्द होने से वही ज्ञान सविकल्प ठहरता है।

व्याख्या :- ''व्यवहारनय से पर-पदार्थों के ग्रहणरूप सविकल्प ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है। पर-पदार्थों के ग्रहणरूप सविकल्प ज्ञान सम्यग्ज्ञान तब है जब शुद्ध स्वात्मा के ज्ञान के साथ सम्मिश्रितरूप से हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव का सविकल्प ज्ञान ही व्यवहार नय से सम्यग्ज्ञान है। तत्त्वार्थ श्रद्धान के अभाव में अंगपूर्वगत पदार्थों का अवबोधन (जानना) सम्यग्ज्ञान नहीं है। शब्द सविकल्पज्ञान का वाचक है, सम्यग्ज्ञान शब्द-समूह के वाच्यरूप में अवस्थित रहता है। इसलिए शब्दरूप ज्ञान को द्रव्यश्रुत और उसके वाच्य निर्विकल्प अवभासनरूप ज्ञान को भाव श्रुतज्ञान कहा जाता है। वही ज्ञान सविकल्प है जिसका वाचक शब्द है अर्थात् निर्विकल्पज्ञान शब्द द्वारा व्यक्त नहीं होता।''

सम्यक् चारित्र का स्वरूप

सद्वृत्तं सर्वसावद्य-योग-व्यावृत्तिरात्मनः ।
गौणं स्याद्वृत्तिरानन्द-सान्द्रा कर्मच्छिदांजसा ॥ ७०॥

सावद्य योग से निवृत्ति व्यवहार कहे सम्यक् चारित्र।
निश्चय से कर्मोच्छेदक आनन्दघन वृत्ति ही चारित्र॥७०॥

अन्वयार्थ :- [**आत्मनः**] आत्मा की [**सर्व-सावद्य-योग व्यावृत्तिः**] सर्व सावद्य (पाप-युक्त) योग से निवृत्ति [**गौणं सद्वृत्तं**] गौण या व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र है, तथा [**अंजसा**] स्पष्ट रूप से (निश्चयनय से) [**कर्मच्छिदा आनंद-सांद्रा वृत्तिः स्यात्**] कर्मों को छेदने वाली और आनंद से घनीभूत (लबालब) वृत्ति सम्यक्चारित्र है।

व्याख्या :- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त अमार्गों से छूटकर जो स्वतत्त्व में विशेषरूप से रूढ़ (परिचय से दृढ़ हुआ) मार्गवाले हुए हैं, उन्हें इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति राग-द्वेष पूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकार ज्ञानस्वभाव वाला समभाव होता है वह चारित्र है, जो कि

उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव (मोक्ष) के महासौख्य का बीज है।

– अमृतचन्द्राचार्य, पंचास्तिकाय गाथा-१०७ की टीका

समाहित अंतरंग वाले जीव को (अर्थात् जिसका अंतरंग एकाग्र-समाधि प्राप्त है ऐसे जीव को) पद-पद पर परमरम्य ऐसी ऊपर की शुद्ध भूमिकाओं में अभिन्न विश्रान्ति (अभेदरूप स्थिरता) उत्पन्न करता हुआ, आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गये अनेकविध मुनि-आचारों के समुदायरूप तप में चेष्टा (प्रवर्तन) चारित्र है। चारित्र की यह प्ररूपणा स्वपर-हेतुक पर्याय के आश्रित (जिन पर्यायों में स्व तथा पर कारण होते हैं अर्थात् स्व पर्याय उपादान कारण और पर पर्याय निमित्त कारण होते हैं) भिन्न साध्य-साधन भाव वाले व्यवहारनय के आश्रय से है। वह व्यवहार-मोक्षमार्ग निश्चय-मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है – यह उपचरित कथन है। उपचरित व्यवहारनय से महाव्रतादि के शुभ विकल्प निर्विकल्प शुद्धपरिणति के साधन कहे जाते हैं। वास्तव में तो महाव्रतादि के शुभ विकल्प के साथ छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि (मिथ्यात्व व तीन चौकड़ी कषाय के अभाव रूप शुद्ध परिणति) सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।

इसप्रकार जिस जीव को अंतरंग से शुद्धि का अंश परिणमित हुआ है उस जीव को तत्त्वार्थ श्रद्धान, अंगपूर्वगत ज्ञान और मुनि आचारों में प्रवर्तनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग विशेष-विशेष शुद्धि का व्यवहारसाधन बनता हुआ, व्यवहारनय से निश्चय मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है।

आत्मा की सर्व-सावद्य-योग से निवृत्ति अर्थात् मन-वचन-काय के द्वारा किये जाने वाले हिंसादिक सभी पापकर्मों से आत्मा

की निवृत्ति और आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गये अनेकविध मुनि-आचारों (पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति रूप) के समस्त समुदायरूप तप की चेष्टा सो व्यवहार चारित्र है।

आत्मा की मिथ्यात्व-कषायादि (शुभ-अशुभ) अशुद्ध भावों से निवृत्तिपूर्वक निर्विकल्प शुद्धभावरूप परिणति निश्चयनय की प्ररूपणा में सम्यक् चारित्र है अर्थात् अन्तरंग एकाग्रसमाधि की प्राप्ति सम्यक् चारित्र है।

अथवा दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगों की आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न संकल्प-विकल्प के जाल के त्याग द्वारा रागादि-विकल्प-उपाधि रहित चित्चमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुररस के आस्वादरूप सुख में; लीन-संतुष्ट-तृप्त और एकाकार परम-समरसी भाव से भीगे हुए चित्त को पुनः पुनः स्थिर करना वह सम्यक्-चारित्र है। – बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा-४० की टीका

निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय कल्याणरूप

तत्त्वार्थाभिनिवेश - निर्णय - तपश्चेष्टामयीमात्मनः
शुद्धिं लब्धिवशाद् भजन्ति विकलां यद्यच्च पूर्णामपि ।
स्वात्म-प्रत्यय-वित्ति-तल्लयमयीं तद् भव्यसिंह-प्रियां
भूयाद्वो व्यवहार-निश्चयमयं रत्नत्रयं श्रेयसे ॥७१॥

तत्त्वार्थों का अभिनिवेश-निर्णय-तप रूप आत्म परिणाम ।
आत्मा का सम्यक् दर्शन अरु ज्ञान-लीनतामय परिणाम ।
लब्धिवशात् विकल या पूर्ण शुद्धिरूप में होता प्राप्त ।
भव्यों को प्रिय उभय रत्नत्रय करे सभी जन का कल्याण ॥७१॥

अन्वयार्थ :- [**यत् तत्त्वार्थाभिनिवेश-निर्णयतपश्चेष्टामयीम्**] जो तत्त्वार्थ के अभिनिवेश रूप सम्यक्-श्रद्धान, निर्णय रूप सम्यक्-ज्ञान और तपश्चरणमयी सम्यक्-चारित्र (इन तीनों रूप व्यवहार

रत्नत्रय है), [**यत् च स्वात्म-प्रत्यय–वित्ति-तल्लयमयीम्**] तथा जो स्वात्मा के प्रत्यय रूप सम्यक्-दर्शन, स्वात्मा की संवित्ति रूप सम्यक्-ज्ञान, स्वात्मा में तल्लीनता रूप सम्यक्-चारित्र (इन तीनों रूप निश्चय रत्नत्रय है), [**लब्धि-वशात्** (यत्) **विकलां पूर्णाम् अपि शुद्धिम् भजन्ति**] लब्धि के वश जो भी विकल (अपूर्ण) या पूर्ण शुद्धि रूप में प्राप्त होता है, [**तत् भव्यसिंह प्रियां व्यवहार-निश्चयमयं रत्नत्रयम् वः श्रेयसे भूयात्**] वह भव्यसिंह – भव्योत्तमों को प्रिय – ऐसा व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय हम सबके लिए कल्याणभूत होवे।

व्याख्या :- जो कोई जीव काल आदि लब्धि (पंचलब्धि-क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करण) को पाकर (१) तत्त्वार्थ के अभिनिवेशरूप श्रद्धात्मक शुद्धि (२) तत्त्वार्थ के निर्णयरूप सम्यक् ज्ञानात्मक शुद्धि और (३) तपश्चरणमयी सम्यक्चारित्र की शुद्धि को धारण करते हैं – इसप्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग को धारण करते हुए वे जीव निज-आत्मा की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन, स्वात्म-संवित्तिरूप सम्यग्ज्ञान और उसमें लीनतारूप – निजात्म-मग्नतारूप सम्यक् चारित्र को प्राप्त होते हैं। वे क्रम से पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करते हैं।

व्यवहार मोक्षमार्ग के साध्यरूप से निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय संग्रह में इसीप्रकार कहा है :-

''धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ।।१६०।।

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ।।१६१।।

अर्थ :- धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व, अंगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान और तप में चेष्टा (प्रवृत्ति) सो चारित्र – इसप्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो आत्मा इन तीन द्वारा वास्तव में समाहित

होता हुआ (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा वास्तव में एकाग्र-अभेद होता हुआ) अन्य कुछ भी करता नहीं है या छोड़ता नहीं है, वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

यह आत्मा वास्तव में कथंचित् (किसी प्रकार, निज उद्यम से) अनादि अविद्या के नाश द्वारा व्यवहार मोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ तथा धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ श्रद्धान के, अंगपूर्वगत पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान के और तप में चेष्टारूप चारित्र के ग्रहण हेतु से (तीनों के त्याग व तीनों के ग्रहण हेतु से) विविक्त (विवेक से स्वभाव से पृथक् किये गये) भावरूप व्यापार करता हुआ और किसी कारण से ग्राह्य का त्याग हो जाने पर तथा त्याज्य का ग्रहण हो जाने पर उसके प्रतिविधान (प्रायश्चित्तादि) का अभिप्राय करता हुआ, जिस काल और जितने काल तक विशिष्ट भावना सौष्ठव (विशिष्ट शुद्ध भावना) के कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अंग-अंगीभाव से परिणति द्वारा उनसे समाहित होकर; त्याग-ग्रहण के विकल्प से शून्यपने के कारण (भेदात्मक) भावरूप व्यापार विराम को प्राप्त होने से (रुक जाने से) सुनिष्कंपरूप से रहता है, उस काल और उतने काल तक यही आत्मा जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से 'मोक्षमार्ग' कहलाता है। इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग को साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है।''

– पंचास्तिकाय संग्रह, समयव्याख्या टीका, गाथा-१६१

''दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं, इसलिए वे सेवन योग्य हैं, परन्तु उनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है। मोक्षमार्ग में जितनी परसमय प्रवृत्ति है वह बंध कारण है। जब जीव समस्त परसमय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप ऐसी स्वसमय-प्रवृत्ति के साथ संयुक्त होता है तब विरुद्ध कार्य का कारणभाव निवृत्त हो गया होने से साक्षात् मोक्ष का कारण

ही है। इसलिए स्वसमय-प्रवृत्तिरूप जीवस्वभाव में नियत चारित्र में ही साक्षात् मोक्षमार्गपना घटित होता है।''

– पंचास्तिकाय संग्रह, समयव्याख्या टीका, गाथा-१६४

अर्हंतादि के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव कथंचित् 'शुद्धसम्प्रयोग वाला' होने पर भी, किंचित् राग जीवित होने से शुभोपयोगीपने को न छोड़ता हुआ, बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वास्तव में सकल कर्म का क्षय नहीं करता। इसलिए मोक्षमार्ग में प्रशस्तरागरूप शुभभाव होता है, परन्तु सर्वत्र राग की कणिका भी परिहरने-योग्य (त्यागने योग्य) है, क्योंकि वह परसमय प्रवृत्ति का कारण है। इसलिए मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर शुद्धात्म द्रव्य में स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति करता है, इसलिए वह निर्वाण को प्राप्त करता है। मोक्षार्थी को कर्मबन्ध का मूल ऐसा जो चित्त का भ्रमण उसके मूलभूत रागादि परिणति का एकान्त से निःशेष नाश करने योग्य है। उसका निःशेष नाश होने से ही उसे निःसंगता और निर्ममता प्रसिद्ध होती है। वह जीव शुद्धात्मद्रव्य में विश्रांतिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति धारण करता हुआ स्वसमयप्रवृत्ति की प्रसिद्धि वाला होता है। उस कारण से वह जीव कर्म बंध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-१७० में कहते हैं कि जिसके परसमय प्रवृत्ति जीवित है उसके निर्वाण दूर है।

''सपयत्थं तित्थयरं अभिगद बुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स॥

अर्थ :- संयम-तपसंयुक्त होने पर भी नवपदार्थों तथा तीर्थंकरों के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर (विशेष दूर) है।''

''जो जीव 'धुनकी को चिपकी हुई रुई' के न्याय से नव

पदार्थों तथा अर्हंतादि की रुचिरूप (प्रीतिरूप) परसमय प्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता, किन्तु देवलोकादि के क्लेश की प्राप्तिरूप परम्परा द्वारा उसे प्राप्त करता है।

इसलिए मोक्षभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करो, ऐसा करने से वह भव्यजीव वीतराग होकर भवसागर को तिरता है, भव सागर के पार उतरकर, शुद्ध स्वरूप परमामृत समूह को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण (उत्तम सौख्य) को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग का व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाय तो इष्ट सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहार नय से मोक्ष के कारण जानो। निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र – इन तीनों मय निजात्मा ही मोक्ष का कारण है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नो पदार्थों के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-व्रतादि के आचरणरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है; निज निरंजन शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की एकाग्रपरिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा शुद्धात्म भावना का साधक (उपचार-व्यवहार नय से), बाह्य-पदार्थ-आश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग है, मात्र स्व-संवेदन से उत्पन्न रागादि विकल्प की उपाधि से रहित – ऐसे सुख की अनुभूतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं वर्तते हैं, अतः वह रत्नत्रयमय आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण होता है।''

– बृहदद्रव्यसंग्रह, गाथा-३९-४० की टीका

इस कारण अभेदनय से अनेक द्रव्यमय एक पान के समान वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है, वही स्वात्मतत्त्व

है। इसप्रकार उक्त लक्षण वाले निज शुद्धात्मा को ही मुक्ति का कारण जानो।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-१९४ में कहते हैं कि ध्यान से ही मोह का क्षय होता है :-

''जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विशुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं॥

अर्थ :- (शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। – गाथा १९३) जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ, परम आत्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार मोह-दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

'सागारोऽणागारो' का अर्थ आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में दो प्रकार से किया है – साकारः सविकल्प ज्ञानोपयोग, अनाकारः निर्विकल्प दर्शनोपयोग अथवा साकारः – सविकल्प गृहस्थ, अनाकारः – निर्विकल्प तपोधन् यति।''

आचार्य अकलंकदेव 'परमानन्द स्तोत्र' श्लोक-१ में कहते हैं :-

''परमानन्द संयुक्तं निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम्॥

अर्थ :- परमानन्दयुक्त, विकार रहित, रोगों से मुक्त और अपने शरीर में ही विराजमान परमात्मा को ध्यानहीन पुरुष नहीं देखते हैं।''

सम्यक्त्व की उपलब्धि ध्यान की अवस्था में ही होती है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग ध्यान करने से प्राप्त होता है, इसलिए मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए ध्यान का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करने की प्रेरणा देते हुए श्रीमद् नेमिचन्द सिद्धान्तदेव बृहद द्रव्यसंग्रह श्लोक-४७ में कहते हैं :-

''दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥

अर्थ :- ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। अतः तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करो।''

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा-१७२ की समयव्याख्या टीका में समागत अंश का सार दृष्टव्य है –

''दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों को निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमध्यान द्वारा मुनि प्राप्त करते हैं। इसलिए हे भव्यजनो ! एकाग्रचित्त होकर तुम ध्यान का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करो; अथवा इसी कारण से देखे हुए, सुने हुए और पूर्व में अनुभव किये हुए अनेक मनोरथ रूप समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्प-जाल का त्याग करके, परम स्वाध्याय से उत्पन्न सहजानन्द जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृत के रसास्वाद के अनुभव में स्थिर होकर, तुम ध्यान का अभ्यास करो।

मोक्षमार्ग का व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाय तो इष्टसिद्धि होती है। व्यवहार और निश्चय की सुसंगतता रहे – इसप्रकार वीतरागपने का अनुसरण करने से भव्यजीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है – मोक्ष प्राप्त करता है।

मुनि अवस्था में मुनियोग्य (मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान कषायजनित अशुद्ध परिणति के निरोध पूर्वक) शुद्ध परिणति निरन्तर होना तथा महाव्रतादि सम्बन्धी शुभभाव यथायोग्य रूप से होना निश्चय-व्यवहार की सुसंगतता है। इसी प्रकार व्रती श्रावक की परिणति में पांचवें गुणस्थान के योग्य शुद्ध परिणति निरन्तर होना तथा देशव्रतादि सम्बन्धी शुभभाव यथायोग्यरूप से होना निश्चय-व्यवहार का अविरोधरूप से होना है।

'जिस योगी को श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि निज शुद्ध स्वात्मा में सिद्ध हो जाती है – ऐसा प्राथमिक भूमिका वाला जीव सुख से अर्थात् सुगमता-सहजता से तीर्थ (मोक्षमार्ग) का प्रारम्भ करता है। परिपूर्ण शुद्धतारूप से परिणत आत्मा साध्य है और व्यवहार रत्नत्रय रूप परावलम्बी विकल्प साधन कहे जाते हैं। निश्चय-व्यवहार की सुसंगतता साधते हुए वह शुद्धात्माभिमुख परिणति के बल से रागादि को उखाड़ता जाता है। रागादि की उत्पत्ति रुकती जाती है। कदाचित् कषाय और प्रमाद के वश आत्म-अधिकार में शिथिल हो जावे तो अपने को न्यायमार्ग में प्रवर्तित करने के लिए प्रचण्ड दण्डनीति (प्रायश्चित्त आदि) का प्रयोग करता है। दोषानुसार अपने को प्रायश्चित्त देते हुए निश्चय रत्नत्रय परिणति के उत्तरोत्तर विकास के लिए सतत उद्यमवंत वर्तता है। सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से निवृत्त होता हुआ भगवान आत्मा में विश्रान्ति की रचना करता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के एक्यरूप निर्विकल्प परम चैतन्यशाली तथा भरपूर आनन्दयुक्त ऐसे भगवान आत्मा में अपने को स्थिर करते हुए, भगवान आत्मा में विश्रान्ति रचते हुए क्रमशः समरसीभाव समुत्पन्न होता जाता है। इस विधि से परमवीतरागभाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव करता है। स्वतत्त्व में विश्रान्ति के अनुसार क्रमशः कर्म का संन्यास करते हुए, अत्यन्त निष्प्रमाद वर्तते हुए अत्यंत निष्कंप मूर्ति होने से जिन्होंने कर्मफलानुभूति अत्यन्त निरस्त की है ऐसे, कर्मानुभूति के प्रति निरुत्सुक वर्तते हुए, केवल (मात्र) ज्ञानानुभूति से उत्पन्न हुए तात्त्विक आनन्द से अत्यन्त भरपूर वर्तते हुए, शीघ्र संसार समुद्र से पार उतरकर, शब्दब्रह्म के शाश्वत फल के (निर्वाण सुख के) भोक्ता होते हैं।''

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की गाथा-२४२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आत्मनिष्ठ संयतत्व को ही मोक्षमार्ग प्रसिद्ध करते हैं :-

''ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्ज्ञान पर्याय है; ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर (अन्य क्रिया) से निवृत्ति द्वारा रचित दृष्टि-ज्ञातृत्व (चेतनत्व) में परिणति जिसका लक्षण है, वह चारित्र पर्याय है। इन पर्यायों और आत्मा के भाव्य-भावकता (आत्मा भावक है और रत्नत्रय परिणति भाव्य है) के द्वारा उत्पन्न अतिगाढ़ इतरेतर मिलन के बल के कारण इन तीन पर्यायों रूप अंग-अंगीभाव से परिणत आत्मा के, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है, वह संयतपना एकाग्रता लक्षणवाला श्रामण्य है, जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग ही है।''

अनगार धर्मामृत (अध्याय-१, श्लोक-११३) में स्वयं पण्डित आशाधरजी अभेद समाधि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं –

''**अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।**
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते॥

श्लोकार्थ : स्वसंवेदन के द्वारा अपना साक्षात्कार करने वाला यह आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा के लिए, इन्द्रिय मन से उत्पन्न होने वाले क्षायोपशमिक ज्ञानरूप आत्मस्वरूप से हटकर, निर्विकल्प स्वात्मा में, स्वसंवेदनरूप स्वात्मा के द्वारा, शुद्ध चिदानन्दमय आत्मा का ध्यान करते हुए घातिकर्मों के क्षयस्वरूप या समस्त कर्मों के क्षयस्वरूप उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त करता है।''

ध्यान में निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों ही प्राप्त होते हैं इसलिए ध्यानाभ्यास करना चाहिए। चित्त स्थिर हुए बिना ध्यान होना संभव नहीं है अत: ध्यान के लिए चित्त का स्थिर होना जरूरी है।

इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह-राग-द्वेष को नष्ट करने से चित्त स्थिर होता है, चित्त स्थिर होने से ध्यान होता है। ध्यान से रत्नत्रय

की प्राप्ति होती है। रत्नत्रय से मोक्ष होता है। मोक्ष से सुख होता है।

शुद्धात्मा की महिमा व शुद्धात्मोपलब्धि की कामना

शश्वच्चेतयते यदुत्सवमयं ध्यायन्ति यद्योगिनो,
येन प्राणिति विश्वमिन्द्रनिकरा यस्मै नमः कुर्वते ।
वैचित्री जगतो यतोस्ति पदवी यस्यान्तर-प्रत्ययो,
मुक्तिर्यत्र लयस्तदस्तु मनसि स्फूर्जत्परंब्रह्म मे ॥७२॥

जो शाश्वत आनन्दमयी, योगीश्वर करते जिनका ध्यान।
जिससे प्रेरित सकल विश्व सुरपतिगण करते जिन्हें नमन॥
जिससे ज्ञात विचित्र जगत यह जिसकी श्रद्धा शिवपथ रूप।
परम ब्रह्म मम हृदय बसे जिसमें लय होना मुक्ति स्वरूप॥७२॥

अन्वयार्थ :- [**यत् उत्सवमयं शश्वत् चेतयते**] जो निरन्तर आनन्दमयी-चैतन्य रूप से प्रकाशित है, [**यत् योगिनः ध्यायन्ति**] जिसको योगीजन ध्याते हैं, [**येन विश्वं प्राणिति**] जिससे यह विश्व अनुप्राणित/प्रेरित है, [**इन्द्र-निकरा यस्मै नमः कुर्वते**] इन्द्रों का समूह जिसे नमस्कार करता है, [**यतः जगतः वैचित्री अस्ति**] जिससे जगत् की विचित्रता विहित होती है, [**यस्य आन्तर-प्रत्ययः पदवी अस्ति**] जिसका आन्तर-प्रत्यय (हार्दिक श्रद्धान) पदवी (मार्ग) है, [**यत्र लयः मुक्तिः**] जिसमें लय होना मुक्ति है, [**तत् परंब्रह्म मे मनसि स्फूर्जत् अस्तु**] वह परंब्रह्म मेरे मन में (सदा) स्फुरायमान होवे।

व्याख्या :- ग्रन्थ के अंत में पं. आशाधरजी चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक सदा अनुभव करने योग्य है ऐसी भावना करते हैं :-

सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षणवाला निज-परमात्मद्रव्य निज-कारणपरमात्मा है। उसकी भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा वही भगवान अर्हंत परमेश्वर

परमब्रह्म हैं। वे केवलज्ञान, केवलदर्शन, परमवीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध हैं। उनके ज्ञान का यह अद्‌भुत माहात्म्य है कि वह एक ही साथ (युगपत) तीनों काल व तीनों लोकों के पदार्थों को सर्वत: (सर्व आत्मप्रदेशों से) तात्कालिक या अतात्कालिक विचित्र (अनेक प्रकार के) और विषम (मूर्त्त, अमूर्त्त आदि असमान जाति के) सर्व अर्थों को जानता है।

जिस प्रकार कमल के भीतर भ्रमर समा जाता है, उसी प्रकार जिनके ज्ञान कमल में यह जगत और अजगत (लोक तथा अलोक) सदा स्पष्टरूप से समा जाते हैं – ज्ञात होते हैं। जिनका ज्ञान न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीतता बिना यथार्थ, सकल वस्तु स्वरूप को जानता है, जिससे अनेकता तथा विविधरूपता से जगत की विचित्रता सुघटित होती है। उनका ज्ञान सबको जानता है और फिर कभी भी सबके जानने से च्युत नहीं होता। इसलिए ज्ञान सर्वगत् है, सर्व व्यापक है। निश्चय से वे भगवान युगपत परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य विशेष युक्त केवलज्ञान के द्वारा अनादिनिधन निष्कारण, असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो दर्शक ज्ञायक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है – ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं। १०० इन्द्रों का समूह उन्हें नमस्कार करता है। ऐसा परम ब्रह्मरूप सर्वज्ञ सूर्य मेरे हृदय में सदा स्फुरित रहे, उसका प्रकाश मुझे निरन्तर मिलता रहे।

सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूप में स्थित, घातरहित अत्यंत निर्मल – ऐसे परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी हैं। सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं, सर्व पदार्थों के ज्ञाता हैं, विषयानंद से रहित ज्ञानानंद में अतिशय मग्न हैं, ज्ञानमय ज्योतिरूप परमपद (मोक्ष) में निरन्तर

ही आनंद रूप से विराजमान हैं। यह अनिन्द्रय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा सर्व बाधारहित और सम्पूर्ण आत्मा में समंत (सर्व प्रकार से परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ परम सौख्य का ध्यान करता है। ऐसा अवस्थान सहज ज्ञानानंद स्वभाव अर्थात् परम पद की सिद्धि ही है।

योगीजन उस मार्ग को ध्याते हैं जिस मार्ग पर आरूढ़ होकर जिन, जिनेन्द्र और श्रमण सिद्ध हुए हैं।

शुद्धात्म तत्त्व में अन्तर्वर्ती उपयोग मोक्षमार्ग का लक्षण है। जो भव्यजन परमपद में स्थित अरहंत-सिद्ध की निश्चय-व्यवहार भक्ति करते हैं, वे अवश्य ही अरहंत-सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है, सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त (वीतराग सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी अरहंत परमात्मा) से होती है, इसलिए अनेक प्रसाद के कारणभूत आप्त-पुरुष बुधजनों – योगीजनों द्वारा पूजनीय हैं। जिस कारणपरमात्मा की भावना से कार्यपरमात्मा उत्पन्न हुए, उस निज कारणपरमात्मा को ही योगीजन निरन्तर ध्याते हैं, निरन्तर शुद्धात्मभावना करते हैं। वस्तुत: उस कारणपरमात्मा की श्रद्धापूर्वक अन्तर्वर्ती उपयोग ही मोक्ष का मार्ग है और उस शुद्धात्मा में निश्चल लीनता ही मुक्ति है।

आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश श्लोक-४९ में कहते हैं:-

''अविद्याभिदुरं ज्योति: परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभि: ॥

श्लोकार्थ : अविद्या को दूर करने वाली महान उत्कृष्ट ज्ञानमय ज्योति है, मुमुक्षुओं को उसके विषयमें पूछना चाहिए, उसकी वांछा करनी चाहिए और उसका अनुभव करना चाहिए।''

वह आनंदस्वभावी, ज्ञानमयी, स्वार्थ को प्रकाशने वाली, महान उत्कृष्ट, अविद्या को दूर करने वाली, विभ्रम का नाश करने वाली, महाविपुल, इन्द्रादिक से भी पूज्य – ऐसी ज्योति है। मुमुक्षुओं को गुरू आदि से उसके विषय में पूछताछ करनी चाहिए, उसी की अभिलाषा करनी चाहिए और उसी का अनुभव करना चाहिए।

आचार्य पूज्यपाद समाधितंत्र श्लोक-५३ में कहते हैं:-

''तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदित्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

श्लोकार्थ : उस आत्मस्वरूप का कथन करे - उसे दूसरों को बतलावे, उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछे, उस आत्मस्वरूप की इच्छा करे – उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये और उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे जिससे यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप छूटकर ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।''

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा-२७४ में मोक्ष के साधनतत्त्व शुद्धोपयोग का अभिनंदन करते हुए कहते हैं :-

''सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स॥

अर्थ :- शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को श्रामण्य कहा है और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, वही (शुद्ध ही) सिद्ध होता है, उसे नमस्कार हो।''

शुद्धोपयोग के आधाररूप निज शुद्धात्मा की भावना निरन्तर मेरे चित्त में वर्ते, ऐसी भावना पूर्वक शुद्धात्मा को और जिन्हें शुद्धात्मा सिद्ध हुआ है, उन्हें भाव नमस्कार करता हूँ। ●

अध्यात्म रहस्य की श्लोकानुक्रमणिका

छन्द	पृष्ठ
अ, आ	
अनन्तानंतचिच्छक्ति	१४६
अमुह्यन्तमरज्यन्त	७४
अविद्यां विद्यया मय्या	१३०
अहमेवाऽहमित्यन्त	५४
अहमेवाहमित्यात्म	५२
आप्तोपज्ञमदृष्टेष्ट	१५
उ, ए	
उपयोगश्चित: स्वार्थ	६९
उपयोगोऽशुभो राग-	१६७
एकमेकक्षणे सिद्धं	१०८
ग, च	
गुणपर्यायवद्द्रव्यं	१११
चेतनोऽहमिति द्रव्ये	१२२
त	
तत्त्वविज्ञान-वैराग्य	१५४
तत्त्वार्थाभिनिवेशनिर्णय	२१२
तदर्थमेव मथ्येत	३५
तदेव तस्मै कस्मैचित्	१३७
तदैकाग्र्यं परं प्राप्तो	१७७
तस्य लक्षमन्तर्भा	६३
द-ध	
दारादिवपुरप्येवं	१४९
द्रव्यं तथा सदा सर्वं	१०८
ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशा	१४१
न	
नम: सद्गुरुवे तस्मै	८
न मे हेयं न चादेयं	१९१
निजलक्षणतो लक्ष्यं	२९
निर्विकल्पस्वसंवित्ति	२०८
निश्चियात् सच्चिदानन्द	९५
निश्चित्याऽनुभवन् हेयं	१६०
ब	
बन्धत: सुगतौ खार्थै:	९१
बुद्धयाधानाच्छ्रद्धान:	४७
बोध-रोधादिरूपेण	१८३
भ, म	
भवितव्यतां भगवती	१९५
भव्येभ्यो भजमानेभ्यो	१
भावयेच्छुद्धचिद्रूपं	७९
भाव्यतेऽभीक्ष्णमिष्टार्थ	१८१
मामेवाऽहं तथा पश्यन्	१४२
य	
यज्जीवेऽङ्गादि तद्वृद्धि	१८४
यथा जातु जगन्नाऽहं	१०४
यथास्थितार्थान्पश्यन्ती	४९
यदचेतत्तथानादि	१०६
यदा यदधितिष्ठामि	१४७
यदेवज्ञानमर्थेन	२०९
यद् गिराभ्यस्यत: सा स्याद्	३९
यद्भाव कर्म रागादि	१७८
यद्यदुल्लिखति स्वान्तं	५७
ययोर्लक्षणभेदस्तौ	६६

यश्चक्रीन्द्राऽहमिन्द्रादि	१२५
यो न मुह्यति नो रज्यत्यपि	१३
र	
रत्नत्रयात्मस्वात्मैव	४१
राग: प्रेम रतिर्माया	८४
रूपित्वं पुद्गले धर्मे	११५
व	
वाग्गम्योऽनश्वर: स्थेयान्	१२०
विशदज्ञान-सन्ताने	१५७
व्यवहारेण मे हेय-	१८५
श	
शश्वच्चेतयते यदुत्सवमयं	२२१
शुद्धचिदानन्दमयं स्वात्मानं	४३
शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप	१७५
शुद्धबुद्धस्वचिद्रूपा	२०३
शुद्ध: स्वात्मा यया साक्षात्	२८
शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति	९
श्रुत्या निरूपित: सम्यक्	२२
स	
स एवाऽहं स एवाऽह	१६१
सद्वृत्तं सर्वसावद्य	२१०
सन्नेवाहमिति मया वेद्ये	९८
समस्तवस्तुविस्तारा	१३५
सम्प्रत्यात्मतयात्मानं	१५१
सर्वत्र काले सर्वेषां	११५
सर्वत्रार्थादुपेक्ष्येऽपि	८८
स विश्वरूपोऽनन्तार्था	६०
स स्वात्मेत्युच्यते शश्वद्	११
सन्तत्यावर्तते बुद्धि:	२६
सैव सर्वविकल्पानां	३२
ह	
हित्वोपयोगमशुभं	१६३
हृत्सरोजेऽष्टपत्रेऽधो	१३९

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ
अ	
अधर्म द्रव्य	११६
अन्तर्जल्प	५५
अन्तर्नाद	४०
अन्तर्वर्ती उपयोग	६४
अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय सुख	१२८
अप्रीति	८६
अमूर्त द्रव्य	११७
अर्थ पर्याय	११६
अवरुद्ध चित्त	१५१
अविद्या	९३
अशुभ भाव	८७
अहंकार	१९४
अज्ञान	९३
अज्ञान चेतना	१०७, १७९
अज्ञान के संस्कार	१५७
अध्यवसाय	१९८
आ	
आकाश द्रव्य	११६
आत्मा-साध्यभाव	४१
आत्मा-साधकभाव	४१

आत्मानुभूति, आत्मदर्शन ५८
आत्मद्रव्य १२३
आत्मपद १३७
आत्मस्वाद १६३
आत्मशुद्धि (विधि) ७४
आप्त १६
अधर्म द्रव्य ११६
आत्मज्ञान ५३
आस्रवभाव ७९
इ
इन्द्रजाल १९४
इन्द्रिय सुख १२६
इष्ट-अनिष्ट ९०
उ
उपयोग ६९
उपादान कारण १९६
उपेक्षा विद्या १३१
उपादेय १८८
ए
एकाग्रता ४९
क
कर्तृत्व भावना १९५
कर्मचेतना, कर्मफल चेतना ११४
कर्मबंध ९०
क्रमभावी पर्याय ११३
कार्यतत्त्व १९३
कार्य परमात्मा, कारण परमात्मा ५
कारण तत्त्व १९३
काल द्रव्य ११९
क्रियानय २१, ७८
कर्मधारा १६९
केवलज्ञान ६१
ग
गुण ११३
च
चित्त भ्रमण ८३
चित्त निरोध १३१
चित्त प्रसाद ८७
चिद् द्रव्य, चिन्मय भाव १०७
चैतन्य ज्योति ६१
चेतनामय परिणति १११
चारित्र १८७
ज
जिनशासन रहस्य १९७
जीवन मुक्त १७३
त
तत्त्व विज्ञान १५५
तत्त्व वेदी १९३
द
दर्शन १८७
दर्शनोपयोग ७०
दृष्टि २८
दृष्टि का माहात्म्य ३३
द्रव्य ९९
द्रव्य कर्म १८३
द्रव्य दृष्टि १३५
दुर्ध्यान १८८
ध
धर्म द्रव्य ११६
धर्म ध्यान १८
ध्याति २७
ध्यान २०
न
निज पद ३
निमित्त कारण १९६

निज वैभव	३७
निरतिशय शुभोपयोग	१६५
निर्जरा	१४३
निर्ममता	१७१
निर्वाण	१८६
निश्चय गुरु	३९
निश्चय ध्यान	१७४
निश्चय भक्ति	६
निश्चय रत्नत्रय	४७
निश्चय सम्यक्त्व	१८८
निश्चय सम्यग्ज्ञान	१८८
निश्चय सम्यक् चारित्र	१८८
निष्क्रिय द्रव्य	११७
निष्टितात्मा	१९४
नि:संगता	५६, १७१
नैरात्म	१०५
नोकर्म	१८५
प	
परम ध्यान	२०
परम ब्रह्म	१४०
परम पारिणामिक भाव	१९२
परम शुद्ध निश्चय नय	१९१
परम समाधि	८२
परद्रव्य प्रवृत्ति	१५५
परमात्म ज्ञान	३९
परात्म ज्ञान	३९
पर्याय	११३
परसमय प्रवृत्ति	२१४
पुद्गल द्रव्य	११६
पारमार्थिक सिद्ध भक्ति	१७१
पारमार्थिक सुख	१२७
प्रज्ञा	५०
प्रीति	८६
ब	
बहिरात्मा	१४८
बहिर्जल्प	५५
बुद्धि	५०
बुद्ध्याधान	४७
भ	
भजमान	१
भवितव्यता	१९८
भव्य	७
भावकर्म	१८७
भावश्रुतज्ञानोपयोग	७३
भावश्रुतज्ञान	२०९
भेद विज्ञान	७६
म	
मति	२३
मोह दुर्ग्रन्थि	२१७
मोह	८५
मोक्षमार्ग	४४
य	
योग	१०
योग भक्ति	१७३
योगी	१०
योगी की भावना	१६०
र	
रत्नत्रय	४४
राग-द्वेष भेद	८४, ८५
राग रेणु	१७०
व	
विकल्पारूढ़	१५९
विभाव पर्याय	१२१
विषय व्याधि	१२६
वैराग्य	११५
वैराग्य शक्ति	१६१

व्यवहार २०४
व्यवहार गुरू ३९
व्यवहार चारित्र १६५
व्यवहार मोक्षमार्ग १८९, २१३
व्यवहार रत्नत्रय २१२, २१३
व्यवहार सम्यक्त्व २०६
व्यवहार सम्यग्ज्ञान २०८
व्यवहार सम्यक् चारित्र २१२
व्यंजन पर्याय १२१
श
शक्ति चक्र १४७
शब्द ब्रह्म १३९
शुक्ल ध्यान २०
शुद्ध परिणति २११
शुद्ध स्वात्मा १३
शुद्धोपयोग ७२, १६७
शुभ भाव ८७
शुभोपयोग के भेद १६५
शून्याशून्य स्वभाव १४२
श्र
श्रामण्य २२०
श्रुत केवली ३७
श्रुत सागर, श्रुताभ्यास ३६
श्रुति १५, २०
श्रमण १५४
श्रेष्ठ निष्ठा १६४
स
सक्रिय द्रव्य ११७
सच्चिदानंद १२५
सत् स्वभाव ९९
सद्गुरू १०, ३९
समय १९५
सविकल्प ज्ञान २०९
सर्वगत ज्ञान ६१
सहभावी विशेष ११३
सातिशय शुभोपयोग १६५
साधन भाव ४१, १४६
साध्य भाव ४१, १४६
साम्य भाव १४, १५१
साम्य सुधारस १५४
सावद्य योग ९४
साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञान चेतना १७६
सिद्ध भक्ति ५६
संचेतन १०७
संयतत्त्व ४९
संवर भाव १४३
संवित्ति २९
संसार चक्र ९०
स्व समय प्रवृत्ति १७१, २१४
स्वभाव पर्याय १२०
स्वरूपास्तित्व १०४
स्वात्मा ११
स्वात्म भावना ८१
स्वात्म संवित्ति १३३
स्वात्मोपलब्धि १८६
ह
हेय १८८
ज्ञ
ज्ञान १८७
ज्ञान की संचेतना १०७, १७९
ज्ञानचेतना ११४
ज्ञाननय २१, ७८
ज्ञाननिधि १७४
ज्ञानशक्ति १६१
ज्ञानोपयोग ७१
ज्ञानधारा १६९

व्याख्या में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्यात्म-रहस्य (पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार व्याख्या)
अनगार धर्मामृत (पं. आशाधरजी)
अनुभव प्रकाश (पं. दीपचन्दजी कासलीवाल)
आत्मानुशासन (आचार्य गुणभद्रजी सूरि)
आत्मावलोकन (पं. दीपचन्दजी)
इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपादजी)
इष्टोपदेश टीका (पं. आशाधरजी)
एकीभाव स्तोत्र (आचार्य वादिराजजी सूरि)
कल्याण मन्दिर स्तोत्र (आचार्य कुमुदचन्द्रजी)
ज्ञानार्णव (आचार्य शुभचन्द्रजी)
तत्त्वज्ञान तरंगिणी (भट्टारक ज्ञानभूषणजी)
तत्त्वानुशासन (आचार्य नागसेनजी)
तत्त्वार्थसार (आचार्य अमृतचन्द्रजी)
तत्त्वार्थ सूत्र (आचार्य उमास्वामीजी)
देवागम स्तोत्र (आचार्य समन्तभद्रजी)
द्रव्य संग्रह (आचार्य नेमिचन्द्रजी)
धवला टीका-षटखण्डागम (आचार्य वीरसेनजी)
न्यायकुमुदचन्द्र (आचार्य प्रभाचन्द्रजी)
नियमसार (तात्पर्यवृत्ति टीका) (भगवद् कुन्दकुन्द आचार्य)
पद्मनन्दि पंचविंशति (आचार्य पद्मनन्दिजी)
प्रवचनसार (भगवद् कुन्दकुन्द आचार्य)
प्रवचनसार-तत्त्वप्रदीपिका टीका (आचार्य अमृतचन्द्रजी)
प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति (आचार्य जयसेनजी)
पंचास्तिकाय संग्रह टीका (आचार्य जयसेनजी)
पंचास्तिकाय संग्रह टीका (आचार्य अमृतचन्द्रजी)
परमानन्द स्तोत्र (भट्टारक अकलंकदेवजी)
परमात्म प्रकाश (आचार्य योगीन्दुदेवजी)

पंचाध्यायी (पाण्डे राजमलजी – टीका पं. देवकीनंदनजी)
मोक्षपाहुड़ (भगवद् कुन्दकुन्द आचार्य)
राजवार्तिक (भट्टारक अकलंकदेवजी)
लघीयस्त्रय टीका (आचार्य अभयचन्दजी)
समयसार (भगवद् कुन्दकुन्द आचार्य)
समयसार-आत्मख्याति टीका (आचार्य अमृतचन्द्रजी)
समयसार कलश टीका (पाण्डे राजमलजी)
समयसार-तात्पर्यवृत्ति (आचार्य जयसेनजी)
समाधितन्त्र (आचार्य पूज्यपादजी)
समाधितन्त्र टीका (आ. प्रभाचन्द्रजी महाराज)
स्वयम्भू स्तोत्र (आचार्य समन्तभद्रजी)
योगसार (आचार्य योगीन्दुदेवजी)
योगसार (आचार्य अमितगतिजी)
रत्नकरण्ड श्रावकाचार (आचार्य समन्तभद्रजी)
शीलपाहुड़ (भगवद् कुन्दकुन्द आचार्य)
मोक्षमार्ग प्रकाशक (पं.टोडरमलजी)
छहढाला (पं. दौलतरामजी)
कषायपाहुड़ (आचार्य वीरसेनजी रचित टीका)
नयचक्र (श्री माइल्ल धवल)
तत्त्वसार (देवसेनाचार्य - कमलकीर्ति कृत टीका)

प्रस्तुत ग्रंथ की कीमत कम करने में –

श्रीमान् कस्तूरचंदजी जैन, मोडक गांव, जिला-कोटा से ५००१/- एवं श्रीमान् सुमेरमलजी जैन, रामगंज मण्डी से ५००१/- रुपये प्राप्त हुए हैं। समिति उनके प्रति आभार व्यक्त करती है।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति

शिरोमणिसंरक्षक सदस्य :

श्री प्रकाशचन्द जैन (सेठी), जयपुर
श्रीमती स्नेहलता जैन ध. प. श्री जैन बहादुर जैन, कानपुर
श्री प्रवीनकुमार जैन शोभा जैन, लक्ष्मीनगर-दिल्ली
श्री परितोष वर्द्धन जैन, जयपुर
श्रीमती सज्जनबाई पारेख, दुर्ग

परमसंरक्षक सदस्य :

श्रीमती मनोरमादेवी ध. प. श्री विनोदकुमार जैन, जयपुर
श्रीमती शशी जैन ध.प. श्री प्रकाशचन्द जैन (सेठी), जयपुर
श्रीमती नीलम जैन ध. प. श्री परितोष वर्द्धन जैन, जयपुर

संरक्षक सदस्य :

श्रीमती रीटाबेन ध. प. श्री अश्विनी शाह, मलाड-मुम्बई
श्री अमित जैन (सेठी), जयपुर
श्री विवेक जैन (सेठी), जयपुर
श्रीमती जयमाला जैन, इटावा, जिला-कोटा
श्री गौरव जैन, जयपुर
श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री महेन्द्रजी गंगवाल ह. राहुल गंगवाल, श्यामनगर-जयपुर

परमसहायक सदस्य :

श्री अहिंसा चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर ह. श्री दिलीपभाई, मुम्बई
श्रीमती निर्मलादेवी ध. प. श्री दीपचन्द जैन पट्ठा, खातेगाँव
गुप्तदान – एक मुमुक्षु भाई, ह.श्री रमेश भण्डारी, बैंगलोर
श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैनमन्दिर, भूलेश्वर-मुम्बई
श्री राम मोहन मनोज कुमार जैन, मुम्बई
श्रीमती निर्मलादेवी छोटेलाल जैन पांडे, मुम्बई
श्रीमती रजनी सुरेश चन्द पहाड़िया, मुम्बई
श्री एस. पी. जैन, मुम्बई
श्रीमती नीता जैन, श्री संजय जैन, दिल्ली
श्रीमती अभिलाषा जैन ध.प. श्री अमित जैन (सेठी), जयपुर
श्रीमती खुशबू जैन ध.प.श्री विवेक जैन (सेठी), जयपुर
चि. श्री धर्मज्ञ जैन (सेठी), जयपुर
श्री महावीरस्वामी दि. जैन मुमुक्षु ट्रस्ट, वापी
श्रीमती पूजा जैन ध. प. श्री गौरव जैन, जयपुर
श्रीमती गुणमाला तारण (जैन) श्री रमेश चन्द तारण (जैन), भोपाल
ब्र. कुसुम बेन (कुम्भोज बाहुबली), देवलाली-नाशिक

सहायक सदस्य :

श्रीमती प्रेमलता जैन ध.प. श्री अरिदमनलाल जैन, कोटा
श्रीमती रतनबाई जैन ध.प. स्व. श्री सोहनलाल जैन, ह. श्री प्रमोद जैन, जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर
श्रीमती सरलादेवी जैन मातुश्री आलोक जैन, कानपुर
श्रीमती ममता जैन ध. प. श्री रमेशचन्द शास्त्री, जयपुर
श्री सुनीलकुमार जैन सुपुत्र स्व. श्री सुखवीर सिंह जैन, सिद्धार्थ एक्सटेंसन, नई दिल्ली
श्री महेन्द्रकुमार जैन पाटनी हस्ते-श्री नरेन्द्रकुमार जैन, जयपुर
श्री ज्ञायक मार्केटिंग प्रा. लिमिटेड, बाँसवाड़ा
श्री बाबू लाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
श्रीमती मंजुलाबैन भोगीलाल दोशी हस्ते - श्री कीर्तिभाई, भाइन्दर-मुम्बई
श्रीमती मुक्ता जैन ध. प. श्री अनूप जैन, ललितपुर
श्री शशिकान्त विवेक चॅवरे, स्मरणार्थ - श्री नरेन्द्रकुमार चॅवरे, कारंजा
श्रीमती ज्योति जैन ध. प. श्री नरेन्द्र कुमार जैन, जबलपुर
स्व. श्री राकेश ज.जैन ह. सौ. प्रीति राकेश जैन एवं सौ. रचना जितेन्द्र जैन, बोरीवली-मुम्बई
श्रीमती सम्पतदेवी पाटनी ध.प. श्री रखवचन्द पाटनी, झालरापाटन
सूरजबाई मदनलाल चेरिटेबल ट्रस्ट, ह. श्री कन्हैयालाल दलावत, उदयपुर
श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट ह. श्री शान्तिभाई
श्री नवीनचन्द केशवलाल मेहता, मुम्बई
श्रीमती प्रभादेवी-राजकुमार जैन, चैम्बूर-मुम्बई
श्रीमती सरिता मिसरुफ एवं श्रीमती विमला बड़ेर, तेजपुर
श्रीमती अचरजदेवी-निहालचन्द जैन, जयपुर
श्री चिद्रूप शाह, मुम्बई
श्री प्रेमचन्द जैन बजाज, कोटा
श्री भागचन्द कालिका, उदयपुर
श्री मनोहर लाल जैन, किरन विहार, दिल्ली
श्री जम्बूकुमारसिंह जैन कासलीवाल, मुम्बई
श्री अजितकुमार रतिलाल जैन गाँधी, मुम्बई
आचार्यप्रवर श्रीमद् जिन तारणतरण मन्डलाचार्य महाराज लोक न्यास छतरपुर,
संस्थापक – पं. नेमीचन्द जयंती जैन
इंजी. श्री साकेत जैन सुपुत्र श्रीमती अनिलकुमार जैन-त्रिशला जैन, बरेली
डॉ. वासन्ती बैन, साइन मुम्बई
श्री सूरजमल वण्डी, हस्ते - श्री आर. के. जैन, इन्दौर
श्री सुभाषभाई एस. कोटड़िया, वापी
चि. श्री सर्वज्ञ जैन सुपुत्र श्री गौरव जैन, जयपुर
कु. प्रतीति जैन सुपुत्री श्री गौरव जैन, जयपुर
श्रीमती मंगलेश देववंद, सहारनपुर
डॉ. सावित्री जैन (से.नि. व्याख्याता संस्कृत) दमोह